

भक्तामर स्तोत्र : एक दिव्य दृष्टि

(मीलिक चिन्तन प्रधान प्रयचन)

भक्तामर स्तोत्र : एक दिव्य दृष्टि

(मौलिक चिन्तन प्रधान प्रवचन)

प्रवचनकर्त्री

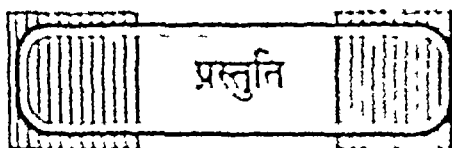
आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी म० की आज्ञानुयतिनी
स्व० महासती उज्ज्वल कुमारी जी म० की शिष्या
साध्वी डॉ० दिव्यप्रभाजी (एम० ए०, पी० एच० डी०)

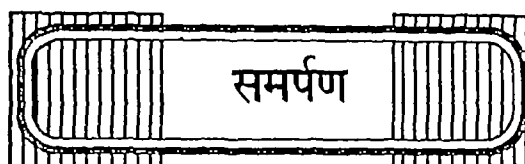
प्रकाशक

उमरावमल चोरड़िया, जयपुर
प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

आत्म-आनन्द दीक्षा-जन्म शताब्दी समारोह के शुभ उपलक्ष्य में

प्रवचन: साध्वी डॉ० दिव्यप्रभाजी प्रवचन-स्थल : जयपुर वर्षावास सन् १९८९
प्रकाशन वर्ष : १९९२ वि० स० २०४९, प्रकाशक : प्राकृत भारती अकादमी एवं
उमरावमल चोरड़िया अध्यक्ष : अ० भा० श्वे० स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस (राजस्थान
अंभाग) १३, तख्ते शाही रोड़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर : फोन . ५६१९४३
५६३७०४ प्राप्ति स्थान.- जैन पुस्तक मन्दिर, भारती भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर :
मुद्रण व्यवस्था . प्रेमचन्द जैन, प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, १/११, साहित्य कुँज,
आगरा - २ फोटो टाइप सैटिंग . दिवाकर टैक्सटोग्राफिक्स, आगरा। लागत मात्र
मूल्य . ५१.०० रु. इक्यावन रुपया।





आचार्य भगवन्त के चरणो मे
जिन शासन के श्रुतधर ।
कलिकाल के प्रभुवर ।
तुम्हारे चरणो मे नमस्कार
कर लो इसको तुम स्वीकार ।
क्योंकि—तुम्हारा ही तुम्हें अर्पण है
तव आशीष का सवेदन है।
सोचती हूँ—
यह मानतुग का कीर्तन है
या तुम्हारा निकेतन है।
लगता है—तुम प्रतिमूर्ति हो मानतुग की
मेरे हृदय आकाश तरंग की
तुम्हारा कीर्तन मेरा वतन है
तुम्हारा ही तुम्हें अर्पण है।

पूज्यवर !

मेरे भावो को स्वीकार करो
प्रभु से मेरी मनुहार करो
तुम्हारा आशीष नित-नूतन है
तुम्हारा ही तुम्हें, अर्पण है।
सच ही तुम—
मेरे जीवन के वरदान हो
इस कृति की मुस्कान हो
तुम्हारा आसन शासन सनातन है
तुम्हारा ही तुम्हें अर्पण है।

—साध्वी दिव्या

आत्म-आनन्द दीक्षा-जन्म शताब्दी वर्ष
लुधियाना
(६)

प्रकाशकीय

श्रमण भक्ति परम्परा में आचार्य मानतुंगरचित भक्तामर स्तोत्र का एक विशिष्टतम स्थान है। शताब्दियों में भक्तजनों का यह कण्ठाभरण रहा है और वे प्रातःकाल में स्मरणीय स्तोत्रों में मंगल पाठ करते आ रहे हैं। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं की सीमा से मुक्त यह स्तोत्र सर्वमान्य एवं सम्मान्य है।

अन्तःसाध्य प्रमाणों के अभाव में कविवर आचार्य मानतुंग व इस स्तोत्र का समय निश्चित करना संभव नहीं है। श्रुति परम्परा से कई विद्वान् इनका समय गालवर्षी महाराज भोज का समय निर्धारित करते हैं, तो कई विद्वान् महाकवि बाणभट्ट के समय महाराजा हर्षवर्धन का समय मानते हैं तथा कई विद्वान् इनका समय विक्रम की छठी शताब्दी के आस-पास का स्वीकृत करते हैं। उद्भट विद्वान् मिहिरि गणि (जिनका समय दशवी शताब्दी निश्चित है) ने उपदेश-माला टीका "हेयोपादेया" में भक्तामर का एक पद्य उद्धृत किया है, इससे निश्चित है कि इनका सत्ता काल नवमी शताब्दी के पश्चात् का तो नहीं है, इससे पूर्व कभी भी हो।

परम्परागत दृष्टि से स्तोत्र की पद्य सख्याओं में भी अन्तर है। कुछ विद्वान् अड़तालीस पद्य मानते हैं और कुछ चौवालीस। अष्टप्रातिहार्यों की दृष्टि से पद्य अड़तालीस ही होने चाहिए।

स्तोत्र की प्रसिद्धि इतनी रही है कि प्रमुख ज्ञान भंडारों में कम से कम दस से लेकर पचास से भी अधिक हस्त प्रतियाँ प्राप्त होती हैं। इसकी स्वर्णाक्षरी एवं सचित्र प्रतियाँ तथा काव्य-मंत्र-यत्र गर्भित प्रतियाँ भी प्राप्त हैं।

इसका व्यापक प्रसार और लेखकों का अत्यन्त प्रिय स्तोत्र होने में अनेक मनीषियों ने इस पर प्रचुर मात्रा में संस्कृत भाषा में टीकाएँ और जन भाषा में वालावबोध लिखे हैं जो निम्न हैं -

१	भक्तामर स्तोत्र टीका	गुणरत्नसूरि (र स १४२६)
२	" " "	कनककुशल (र स १६३२)
३	" " "	अमरप्रभ-सूरि
४	" " "	शान्तिसूरि
५	" " "	मेघविजयोपाध्याय (१८वीं सदी)
६	" " "	रत्नचन्द्र

- | | | |
|-----|--|-------------------------------|
| ७. | भक्तामर स्तोत्र टीका | समयसुन्दरोपाध्याय (१८वीं सदी) |
| ८. | „ „ „ | इन्द्ररत्न गणि |
| ९. | „ „ „ | चन्द्रकीर्तिसूरि |
| १०. | „ „ „ | हरितिलक गणि |
| ११. | „ „ „ | क्षेमदेव |
| १२ | भक्तामर स्तोत्र बालावबोध, मेरुसुन्दरोपाध्याय (१६वीं सदी) | |
| १३ | भक्तामर स्तोत्र बालावबोध, शुभवर्धन गणि | |
| १४. | „ „ „ , | लक्ष्मीकीर्ति |

इस स्तोत्र की चमत्कार प्रसिद्धि को ध्यान में रखकर कथा, चरित्र, माहात्म्य पर भी निम्न लेखकों की कृतियाँ प्राप्त हैं —

- | | | |
|----|------------------------------|------------------|
| १ | भक्तामर स्तोत्र कथा | ब्रह्मरायमल्ल |
| २ | भक्तामर स्तोत्र चरित्र | विश्व-भूषण |
| ३. | भक्तामर स्तोत्र पूजा | श्रीभूषण |
| ४ | भक्तामर स्तोत्र माहात्म्य | शुभशील |
| ५. | भक्तामर स्तोत्र व्रतोद्यापन | ज्ञानभूषण |
| ६. | „ „ „ | सुरेन्द्र कीर्ति |
| ७ | „ „ „ | सोमसेन |
| ८ | भक्तामर स्तोत्र पंचांग विधि, | — |

इस स्तोत्र के अनुकरण पर अनेक दिग्गज कवियों ने प्रचुर परिमाण में पादपूर्ति स्तोत्र छाया स्तवन भी लिखे हैं; जो निम्न हैं.—

- | | | | |
|----|----------------------------|---|------------------------|
| १. | नेमि भक्तामर स्तोत्र | — | भावप्रभसूरि |
| २. | ऋषभ भक्तामर स्तोत्र | — | समयसुन्दरोपाध्याय |
| ३ | शान्ति भक्तामर स्तोत्र | — | लक्ष्मीविमल |
| ४. | पार्श्व भक्तामर स्तोत्र | — | विनयलाभ |
| ५. | वीर भक्तामर स्तोत्र | — | धर्मवर्धनोपाध्याय |
| ६ | सरस्वती भक्तामर स्तोत्र | — | धर्मसिंहसूरि |
| ७. | भक्तामर प्राणप्रिय काव्य | — | रत्नसिंह |
| ८ | भक्तामर पाद पूर्ति | — | प हीरालाल |
| ९ | भक्तामर पादपूर्ति स्तोत्र | — | महा० म० प० गिरधर शर्मा |
| १० | भक्तामर स्तोत्र छाया स्तवन | — | माल्लिषेण |
| ११ | भक्तामर स्तोत्र छाया स्तवन | — | रत्नमुनि |

प० बनारसीदास, प० हेमराज और आनन्ददास के प्राचीन हिन्दी में प्रकाशित भी प्राप्त हैं।

वर्तमान समय में तो इसके हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनेक प्रकाशक एवं गद्यमय अनुवाद निकल चुके हैं। कई मन्दिर सम्प्रदाय भी विज्ञान रहे हैं।

प्रस्तुत सत्करण का इतिहास—

इस स्तोत्र के कतिपय दैनिक पाठो भक्त और आराध्य इसके अवलोकन में तो अतिरिक्त अवश्य हैं किन्तु इसके ग्रन्थ में अनभिज्ञ हैं। जयपुर में कुछ आराध्य इसके ग्रन्थ में जानकारी प्राप्त करने के इच्छुक थे और हम स्तोत्र के विशिष्ट माध्यम रूप में भक्तिसंगत मर्मज्ञ की तलाश में थे। वार्ता के दौरान हमें श्री आनन्दजी जी आदि स्तुति में भी भक्तों दिव्यप्रभा जी के गहन अध्ययन की जानकारी प्राप्त हुई। साध्वीगता डॉ० दिव्यप्रभा जी बाल्यकाल से ही भक्तावर-पाठी, आराधिका और गायिका रही हैं। आमतौर पर अनुभूति भी इन्हें है। इनके जीवन का सदन भी यह स्तोत्र रहा है।

संयोग से वर्ष १९८९ का चतुर्मास इनका जयपुर में रहना। आराध्य के आग्रह से साध्वीवर्या ने रविवार को इस पर प्रवचना देना शुरू किया। हमें इनके सत्रह (१७) प्रवचन हुए। प्रवचनों के आधार पर ही विदुषी साध्वीगता डॉ० दिव्यप्रभा जी इसका पुस्तक के रूप में सम्पादन किया है।

ये प्रवचन वस्तुतः दिव्यप्रभाजी म० सा० के चिन्तन, भावों के परिणाम हैं। इनके चिन्तन में गहराई है, अनुभूति है और भक्त हृदय की ध्वनि है। इनकी शक्त और परम्परागत अर्थों पर स्वतंत्र चिन्तन प्रस्तुत करते हुए लगभग एक सौ से अधिक श्लोकों का प्रयत्न भी किया है। इनकी प्रतिपादन शैली में ज्ञान का चित्त तरंगण भी प्रभावित हुआ है।

प्रवचनों के साथ ही जिज्ञासापरक प्रश्नों का समाधान भी दिव्यप्रभा जी म० सा० ने विस्तार से दिया था। उसका प्रस्तुतिकरण टेपरेकॉर्ड के आधार पर श्री शान्ति कुमार चोरड़िया ने किया है जो परिशिष्ट में दिया गया है।

इस अमूल्य उपहार के लिए हम विदुषी साध्वीगता डॉ० मुक्तिप्रभाजी, साध्वी डॉ० दिव्यप्रभाजी, साध्वी अनुपमाजी के भी अत्यन्त आभारी हैं। इसका व्यवस्थित प्रारूप तैयार करने में महामहोपाध्याय श्री विनय सागर जी की सेवाओं को भी धिस्तृत नहीं किया जा सकता। श्री शान्ति कुमार चोरड़िया भी साधुवाद के पात्र हैं।

प्रस्तुत पुस्तक प्राकृत भारती के पुष्प-७६ के रूप में इस संयुक्त प्रकाशन को प्रकाशित करते हुये हमें हार्दिक प्रसन्नता है।

पुस्तक को सकलित करने की विशेष प्रेरणा एव आग्रह श्री उमरावमलजी चोरड़िया का रहा, जिस कारण यह सकलन प्रस्तुत हो सका है। पुस्तक के सम्पादन तथा मुद्रण तकनीक की प्रस्तुति में श्री श्रीचन्द जी सुराणा एव श्री प्रेमचन्द जी जैन, आगरा का पूर्ण योगदान रहा है।

अन्त में हम आशा करते हैं कि भक्तामर स्तोत्र-पाठी एव आराधको के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी और गहन चिन्तन के साथ “भक्तामर अमर हो” का मार्ग प्रशस्त करेगी।

उमरावमल चोरड़िया

देवेन्द्रराज मेहता

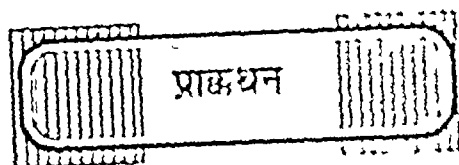
(अध्यक्ष)

(सचिव)

अ भा स्था जैन कान्फ्रेंस (राजस्थान)

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर





प्राक्कथन

जैन परम्परा, बौद्ध एवं वैद्यनाथ परम्परा, जिन्होंने ज्ञान के प्रकाश को सुप्रसिद्ध है। किन्तु यह भी भक्ति के स्पर्श में अस्पृश्य न रह गयी, वह ही नहीं रह गयी। जब तक मानव का अन्तर्हृदय रसविशेष से अन्तर्निर्गम्य रहने, तब तक वह ज्ञान के साधन एवं साध्य को कैसे स्पर्श कर सकता है। जैन परम्परा के ज्ञान के साधन की शुरुआत 'शक्रस्तव' (नमोस्तुते) आदि स्तोत्र आन 'श्री प्रणामस्तव' से शुरू होती है। ये स्तोत्र याचनामुक्त मात्र श्रद्धाप्रधान स्तुतिपरक हैं। चतुर्विंशतिशतक (1400-1500) का जैन साहित्य मानते हैं, तथापि उसमें "आरोग्य दोगिलाभ सत्तादिवस, तस्य दिना" तथा "सिद्धिं सदा मम दिसन्तु" के कुछ अंश ऐसे हैं, जिनमें सकल भक्ति के, मानवतापरक रस प्रकट हो रहे लगते हैं। उत्तरकालीन जैन साहित्य तो सकल और निष्कल दोनों ही स्वरूप में भक्ति के इतना विराट रूप ले लेता है कि उसका साहित्यिक विधा में एक पृथक् ही स्थान बन जाता है।

जैन स्तोत्र साहित्य में आचार्य श्री भद्रबाहु ग्यामी द्वारा रचित उदयमण्डल स्तोत्र का स्पष्ट ही रोग, दुःख एवं दुर्गति आदि की मुक्ति की भावना के लिए कोणाग्र प्रथम स्तोत्र है। इसी धारा में नामोल्लेखपूर्वक तीर्थंकरों की भक्ति के ओझ में स्तोत्र साहित्यिक रूप बना। आगे चलकर आचार्य सिद्धसेन, आचार्य भगवन्तभद्र एवं आचार्य हेमचन्द्र आदि की भक्ति-रचनाएँ दार्शनिकता को स्पर्श करती हुई अग्रसर होती हैं, जो आज भी हमारे लिए

गौरवानुभूति की हेतुता मे सर्वतोभावेन स्तुत्य हैं। जैन स्तोत्रमाला मे स्तोत्रो के जो विविध रूप उपस्थित हैं, उनमे भक्तामर स्तोत्र काफी महत्ता प्राप्त स्तोत्र है। उसके सबध मे अनेक चमत्कार प्रधान गाथाएँ जैन समाज मे सुप्रचलित हैं, जो भक्तामर स्तोत्र के प्रति तर्कातीत श्रद्धा का अद्भुत रूप लिए हुए हैं। यही हेतु है, हजारो भक्त प्रतिदिन भक्तामर स्तोत्र का पाठ करते हैं। अनेक महानुभाव तो ऐसे हैं कि प्रातःकाल भक्तामर स्तोत्र का पाठ किये बिना अत्यन्त पिपासित एव बुभुक्षित स्थिति मे भी मुख मे जल की एक बूद एव अन्न का एक कण भी नही डालते हैं।

यह भक्तामर के प्रति श्रद्धा का ही सुपरिणाम है कि उसके अनेक सस्करण अनेक रूपो मे प्रकाशित हो रहे हैं। प्रत्येक प्रकाशन की महत्ता एव गुणवत्ता अपनी एक विशिष्टता रखती है। अतः हम यहा श्रद्धास्निग्ध भक्तो द्वारा संपादित एव प्रकाशित उन सस्करणो मे अच्छे-बुरे की कोई कल्पना नही करते हैं। भक्त द्वारा अपने आराध्य प्रभु के गुणो के सगान के रूप मे अनुगुंजित हुए स्तोत्रो के प्रकाशनों में अच्छे-बुरे के विकल्प हो भी कैसे सकते हैं।

प्रस्तुत मे यहा डॉ साध्वीरत्न श्री दिव्यप्रभाजी द्वारा परिभाषित एव सम्पादित भक्तामर स्तोत्र के सबध मे कुछ पंक्तियों उपस्थित कर रहा हूँ। यह सस्करण अपनी एक महती विशिष्टता रखता है। श्री दिव्यप्रभाजी ने अपनी प्रतिभा का श्लाघनीय उपयोग करके भक्तामर स्तोत्र के श्लोको मे अन्तर्निहित आध्यात्मिक भावना को प्रस्फुटित किया है। शब्द का महत्त्व अवश्य है किन्तु जब तक शब्द मे निहित भावार्थ एव परमार्थ की ज्योति को उद्भासित न किया जाए, तब तक भक्तहृदय लोकोत्तर दिव्य आलोक से आलोकित नही हो सकता, जो कि आध्यात्मिक शक्ति के जागरण के हेतु नितान्त आवश्यक है।

मैं नेत्र-ज्योति की क्षीणता के कारण स्वयं पठन मे अशक्त हूँ। अतः प्राप्त पुस्तक मे से इतस्ततः जो सुन पाया हू उस पर से कह सकता हूँ कि श्री दिव्यप्रभाजी वस्तुतः दिव्यप्रभा है। भक्तामर स्तोत्र के परमार्थ को उद्घाटित करने मे उन्होंने जो एक नई दिशा की ओर प्रयाण किया है, वह अन्तर्हृदय से श्लाघनीय है, समादरणीय है। सभव है, अभिधावादी तर्कशील मनीषी साध्वी श्री दिव्यप्रभाजी की कुछ प्रकल्पित धारणाओ से सहमत न भी हो तथापि इतना तो कहना ही होगा कि उनका यह सुप्रयास कथंचित् साधुतावाच्य अवश्य है। एतदर्थ वे शतसहस्रशः साधुवादार्ह हैं। आशा ही नही विश्वास है स्तोत्रप्रिय भक्तजगत मे भक्तामर स्तोत्र का यह सस्करण भक्त की अन्तश्चेतना मे अन्तर्निहित परात्पर परमचैतन्य भाव को जागृत करने मे अपना समुचित योगदान दे सकेगा। भक्त हृदय की श्रद्धा को अधिकाधिक उद्दीप्त कर पायेगा।

मैं श्री दिव्यप्रभाजी के प्रति आशान्वित हूँ कि वे भविष्य में उनके मार्गदर्शक के अति
 अन्य अनेक स्तोत्रों को भी इसी प्रकार अपने प्रतिभापूर्ण लेखों में परिचित करा देंगे।
 उनकी रचना का प्रवाह झर-झर करी अवरुद्ध न रहकर बहता ही रहता है।
 निरन्तर गतिशील होता रहे, यही प्रभुचरणों में मार्गदर्शक के लक्ष्य है।

वीरायतन

राजगृह, बिहार

देव प्रबोधिनी एकादशी १९९१

-उपामन्यु अवतार मुनि

सम्पादकीय

‘भक्तामर’ शब्द से आप अवश्य परिचित होंगे लेकिन भक्तामर के रहस्यो से आप कितने परिचित हैं इसका मुझे पता नहीं और न ही इसका पता है कि इसके पारिभाषिक अर्थ से आप कितने परिचित हैं।

कुछ शब्द दो प्रकार के अर्थों की अभिव्यक्ति देते हैं—एक शाब्दिक अर्थ, दूसरा पारिभाषिक अर्थ। पारिभाषिक अर्थ का ज्ञान गुरु के बिना सहज नहीं है। गुरु या आचार्य से जब तक उसका ज्ञान नहीं किया जाता है तब तक उसका रहस्य अनावृत नहीं होता।

दो शब्दों के योग से इस शब्द की रचना हुई है—भक्त+अमर। इसमें भक्त और अमर शब्द के शाब्दिक और रुढ़िगत अर्थ तो आपने कई बार सुने या पढ़े होंगे। परन्तु, परम आदरणीय साध्वी डॉ० दिव्यप्रभाजी ने किसी विशेष अनुग्रह से इन शब्दों के पारिभाषिक एवं पारमार्थिक अर्थ प्राप्त किये हैं।

भक्त याने जीव—आत्मा और अमर याने वे जिनकी कभी मृत्यु नहीं होती अर्थात् परमात्मा। भक्तामर शब्द की इस व्याख्या को इन्होंने स्तोत्र में यथास्थान व्याख्यायित कर हमें वास्तविकता से परिचित कराया है। इतिहास के अनुसार समय, स्थान और स्थिति के कारण अर्थों की परिभाषाये बदलती रही हैं। ऐसे ही कुछ कारण थे जो भक्तामर स्तोत्र की मौलिक अर्थ विवेचना परिस्थिति के प्रभाव में परिवर्तित होती रही। देश और काल के प्रभाव में शब्दार्थों ने करवट बदली और हम जैन पारिभाषिक शब्दावलि से कई गुना दूर निकल गये।

जैसे सामान्यतः सुरगुरु शब्द का वृहस्पति अर्थ जैन परंपरा को कैसे मान्य हो सकता है? देवताओं के प्रकारों में इनका कहाँ स्थान है? कल्पात शब्द का युगान्त या काल-परिवर्तन अर्थ जैन अर्थ-परंपरा के मापदंड में कैसे सही माना जाएगा? ऐसे कई शब्द हैं जो मात्र वैदिक परंपरा की मान्यताओं की पुष्टि का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। साध्वी डॉ० दिव्यप्रभाजी अपने प्रवचनों में इन शब्दों के जैन परंपरागत मौलिक अर्थ प्रस्तुत कर एक रुढ़िगत मान्यता का वास्तविक निराकरण प्रस्तुत करती हैं। वृत्ति या व्याख्या के अनुसार इनकी पुष्टि न भी हो, परन्तु आगम से ये अर्थ अछूते नहीं हैं। इस प्रकार इन प्रवचनों से समाज को पुरातन के साथ नूतन दिशा का आलोक मिलने की संभावना है। वर्तमान समाज की जैन परिभाषा की जिज्ञासा को इससे काफी पुष्टि मिलती है।

समाज की जिज्ञासा को देखते हुए और श्रीमान् उमरावमल जी सा चोरड़िया के विशेष आग्रह से मुझे इसके सम्पादन का कार्यभार सौंपा गया।

यद्यपि भक्तामर जैसे महान स्तोत्र पर दिये गये प्रवचनों का सम्पादन मेरी जैसी अल्पज्ञा साध्वी के लिये विकट अवश्य था, परन्तु परम गुरुवर्या साध्वी रत्न डॉ० मुक्तिप्रभाजी म० सा० की पावन प्रेरणा भरे आशीर्वाद से यह कार्य सहज हो गया। इस प्रकार इस ग्रन्थ की जन्मभूमि जयपुर है।

ऐसे तो इस स्तोत्र के साथ एक इतिहास ही जुड़ा हुआ है। अनभिव्यक्त ऐसी एक वास्तविकता से आज आपको अनुभूत कराने को मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ। आप यह तो जानते हैं कि साध्वी दर्शनप्रभाजी और साध्वी डॉ० दिव्यप्रभाजी की मैं अनुजा हूँ। इनके प्रगतिमान कदम मेरे जीवन के प्रेरणास्रोत बने हुए हैं। साध्वी डॉ० दिव्यप्रभाजी बचपन से ही भक्त हृदया के साथ वैराग्यवासित भी रही हैं। इनके जन्म के समय में पिताश्री चीमनभाई को इनके दीक्षा लेने का भी संकेत मिल चुका था।

अब देखिये, भक्तामर स्तोत्र का इनके जीवन के साथ कैसे सम्बन्ध हुआ। बाल्यकाल से ही स्तोत्र की प्रेरणा कैसे मिलती रही। दादाजी के यह कहने पर कि जो भी पहले भक्तामर कण्ठाग्र करेगा उसे चाँदी की डिब्बी और चाँदी की माला दी जाएगी। तब पूरे परिवार के करीब १०-१२ बच्चों में इन्होंने सर्वप्रथम मात्र ५ दिन में ही स्तोत्र याद कर लिया था। तब इनकी आयु ७ वर्ष करीब थी। जहाँ तक मुझे याद है, ये अस्खलित स्तोत्र पाठ करती थीं। मेरे ससारी पिताजी ही इनके भक्तामर स्तोत्र के प्रथम गुरु रहे हैं। ९ वर्ष की उम्र में इन्होंने अपने पिताजी से स्तोत्र के सामान्य अर्थ सीखे थे। उस समय से प्रतिदिन इसके सम्बन्ध में कई जिज्ञासापूर्ण प्रश्नों को पूछती रहती थी, जिनका आज वे स्वयं बहुत अच्छा समाधान देती हैं।

इसके बाद करीब ई० सन् १९६९ में आपको महान विभूति आत्मार्य पूज्य गुरुदेव मोहनऋषिजी म० सा०, आगम रत्नाकर पूज्य विनयऋषिजी म० सा० और परम गुरुवर्या अनुग्रहपूर्णा साध्वी रत्न उज्ज्वलकुमारी जी म० सा० के सान्निध्य में चातुर्मास का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस अवसर पर आत्मार्य पूज्य गुरुदेव द्वारा स्तोत्र की साधना के अभ्यास की और परम गुरुवर्या द्वारा इसके वैज्ञानिक अनुसंधान की प्रेरणा मिली। इन प्रेरणाओं में अपना पथ दर्शन करती हुई आप अपने अध्ययन क्षेत्र में आगे बढ़ीं। ई० सन् १९७५ में आपने 'अरिहत' का अनुसंधान प्रारम्भ किया। लोगो की दृष्टि में जो महानिबन्ध था, वह आपके जीवन का साधनामय अभ्युत्थान रहा। कई बार इस खोज में जब आपका काम अटकता था तब आपको अज्ञात प्रेरणा मिलती रहती थी। इससे मनोबल और श्रद्धाबल बराबर दृढ़ होते गये। ई० सन् १९८० में बालकेश्वर में "अरिहत नी ओलखाण" विषय पर आपके बड़े मार्मिक १७ प्रवचन हुए थे। इसी वर्ष "दार्शनिक और वैज्ञानिक परिवेश में "चत्तारि सरण पव्वज्जामि" के विषय से मागलिक पर भी आपके कुछ प्रेरणास्पद प्रवचन होते रहे। पाचोरा चातुर्मास के पूर्व हम पारोला नामक एक गाँव में थे। वहाँ एक बार आपको भक्तामर स्तोत्र का पाठ करते समय गाथा ३६ का भाव-पूर्वक

स्मरण हो गया था। परमात्मा के चरण दर्शन से आप में एक विशेष अनुभूति पैदा हुई। तब से आपके जीवन की दिशा प्रकट हुई। अनासक्त भाव, समरसता, आत्मदर्शन आदि गुण आप में आविर्भूत हुए। यह सब देखते हुए परम गुरुवर्या पूज्य मुक्तिप्रभाजी म० सा० ने चातुर्मास काल में आपको इसी स्तोत्र पर प्रवचन करने का आदेश दिया। आपने उस आदेश को जीवन की मंगल अभ्यर्थना समझकर स्वीकार किया, जो आज एक प्रवचन माला की माला के रूप में आपके जीवन का उपहार बनने जा रही है। स्तोत्रकार ने स्तोत्र को भी माला कहा है, यह उस माला की बनी प्रवचन माला है।

लीजिए गले से लगाइये, हृदय में उतारिये और भाग्यशाली बनिये।

—साध्वी अनुपमा



शुभाशंसा

जैन धर्म के चारो सम्प्रदायो द्वारा मान्य 'भक्तामर स्तोत्र' आचार्य मानतुग सूरि का एक अद्वितीय एव चमत्कृत स्तोत्र है।

भक्ति का महत्त्व तो भक्त-हृदय ही समझ सकता है। अपने इष्टदेव के समक्ष हृदय खोलकर रख देने वाले भक्त-कवियों की परंपरा की सूची बहुत लम्बी है। आश्चर्य की बात तो यह है कि उन भक्त-कवियों के हृदयस्थ भाव जो स्तवन और स्तोत्र रूपी झरने बनकर बह निकले उसमें आज भी साधारण जन उसी तन्मयता से बहने लगते हैं।

आचार्य मानतुग सूरि के इस स्तोत्र से अनेक भक्त-जीवात्माओं के अध्यात्ममार्ग प्रशस्त हुए हैं। इसका एक-एक शब्द, वाक्य और श्लोक मनस्ताप को दूर करता है। इसका प्रत्येक पदविन्यास गूढ़ मंत्र रहस्यो से युक्त है। सभी श्लोक भिन्न-भिन्न मनोरथों को पूर्ण करते हैं। जैन धर्म में, विशेषतः मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में अनेक स्तोत्र हैं, पर श्री भक्तामर स्तोत्र के समकक्ष किसी को नहीं रखा जा सकता।

विदुषी डॉ. साध्वी श्रीमुक्तिप्रभाजी की प्रेरणा से डा. साध्वी श्री दिव्यप्रभाजी ने उनके जयपुर चातुर्मास में इस महास्तोत्र को अपने प्रवचनों के द्वारा इसकी महिमा से जन-जन को लाभान्वित करने का स्तुत्य प्रयास किया था। यह और भी प्रसन्नता का विषय है कि अब वे प्रवचन ग्रन्थस्थ होकर स्तोत्र महिमा में और अभिवृद्धि करेंगे। प्रत्येक श्लोक का सूक्ष्म एवं सरल विवेचन प्रशंसनीय है। निस्संदेह 'भक्तामर स्तोत्र : एक दिव्य दृष्टि' से भव्यात्माओं को दिव्य दृष्टि प्राप्त होगी।

विजय इन्द्रदिनसूरि का धर्मलाभ

(आचार्य विजय इन्द्रदिन सूरिजी महाराज)

१९-१०-९१

जयपुर

मंगल-संदेश

जैन शासन मे साध्वियो की गौरवशाली परंपरा रही है। भगवान महावीर के समय में साध्वियो की संख्या छत्तीस हजार थी। वर्तमान मे लगभग ग्यारह हजार साध्विया साधना कर रही हैं। भौतिकता-प्रधान युग मे इतनी बड़ी संख्या मे साध्वियो द्वारा किया जा रहा आध्यात्मिक अनुष्ठान अपने आप मे एक उपलब्धि है। साधना के तीन अंग हैं— दर्शन, ज्ञान और चारित्र। इन तीनों अंगों की पुष्टि होने से ही आत्मोपलब्धि की दिशा मे गति संभव है।

वर्षों से मेरी आकांक्षा थी कि जैनशासन मे साध्वियो का कर्तृत्व उजागर हो। ज्ञान के क्षेत्र मे उनकी गति हो। जैन-साहित्य उनके अवदान से गरिमा-मण्डित हो। विगत दो-तीन दशकों मे साध्वियो ने इस क्षेत्र में प्रस्थान किया है। उनकी गति भले ही मन्द हो, पर यह विकास का शुभ संकेत है।

डॉ साध्वी दिव्यप्रभाजी ने आचार्य मानतुंग द्वारा रचित भक्तामर स्तोत्र को आधार बनाकर व्याख्यान दिए। भक्तामर स्तोत्र जैन-परंपरा मे प्रसिद्ध तो है ही, इसके प्रति प्रगाढ़ आस्था है। श्रद्धा के साथ स्तोत्र का पाठ निश्चित रूप से श्रेयस्कर होता है। साध्वी द्वारा इस सदर्थ मे दिए गए व्याख्यान श्रद्धालुजनों की आस्था को पुष्ट आलम्बन देगे, ऐसा विश्वास है।

जैन विश्व भारती,
लाडनू ३४१ ३०६ (राजस्थान)
१५ अक्टूबर १९९१

आचार्य तुलसी

भक्ति और शक्ति का समन्वित प्रभाव

भक्तामर स्तोत्र के प्रत्येक पद्य में अरिहन्त आदिनाथ के प्रति आचार्य मानतुंग की असीम आत्म श्रद्धा व्यक्त हो रही है। उनकी अमित आत्मशक्ति से स्फुरित प्रबल भावना द्वारा वेड़ियों तथा ताले टूटने का अद्भुत चमत्कार जन मानस को चकित कर रहा है।

महासती उज्ज्वल कुमारी जी की शिष्या साध्वी श्री दिव्य प्रभाजी द्वारा किये गए पद्यों के विस्तृत विवेचन में अपूर्व हार्दिक श्रद्धा भक्ति एवं दिव्य आत्म शक्ति प्रवाहित हो रही है।

चोरडिया जी द्वारा किये गए प्रकाशन से भक्तामर स्तोत्र के पठन-पाठन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा और इससे भावुक भव्यों की भव्य भावना भी प्रवृद्ध होगी।

अ. प्र. मुनि कन्हैयालाल “कमल”

आशीर्वचन

कृति सदा आकृति की प्रकृति है। प्रकृति आकृति की अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति अनुभूति की प्रतिमूर्ति है। प्रतिमूर्ति सस्कृति बनकर प्रवृत्तिमय होकर स्तुति बन जाती है। तब हृदय से जो प्रकट होता है वह स्तोत्र बन जाता है। भक्तामर स्तोत्र एक ऐसा ही प्रकट स्तोत्र है। भक्तिप्रिया साध्वी दिव्या ने भक्तामर स्तोत्र की साधना करके अपनी मुक्त भावतरंगों द्वारा परमात्मा के चरणों में सहज समर्पण किया है। यही कारण है कि उसे इसमें से परमार्थ प्राप्त हुआ है।

यह परमार्थ सृष्टि का वरदान बने इस हेतु मैंने उसके सवेदनशील भावों को प्रवचन का रूप देने का आग्रह रखा। मेरे इस आग्रह को आदेश मानकर उसने स्वीकार कर लिया। इस प्रकार ये प्रवचन उसके परमात्म-प्रेम की वह अनुभूत धारणा है कि प्रवचन को सुनते समय अतर्दशन और परमात्मदर्शन का कोई अवसर अवश्य आ जाता है।

सच कहूँ तो ये प्रवचन ही नहीं, जीवन दर्पण है, इसमें अपने आप को निहार लो। ये तो पावन अमृत है, इसका मधुर पावन पान कर लो। यह हृदय की उर्मि का झरना है। यदि प्यासे हो तो पान कर लो या फिर चाहे स्नान कर लो।

उलझने सब मिट जाएगी एक अमिट की याद रहेगी।

नमन अरिहन्त को करलो तो ना कोई फरियाद रहेगी।

आचार्य मानतुग की युग-युग तक आवाज रहेगी।

दिव्या की परमार्थ भावना सदा-सदा आबाद रहेगी।

—साध्वी मुक्तिप्रभा



विषय - सूची

१	भक्तामर स्तोत्र का परिचय	१
२.	परमात्मा का परिचय	९
३	आत्मा का परिचय	१६
४.	प्रभु मिलन	२३
५	बन्धन	२९
६	मुक्ति-बोध	३४
७.	प्रारम्भ	४३
८	भाव-प्रभाव	४७
९	आश्चर्य	५१
१०	दर्शन	६१
११	निर्माण	६७
१२	परिवर्तन	७६
१३	प्रसन्नता	८४
१४	स्वरूप	९५
१५	वैभव	११२
१६	प्रतीक	१२७
१७	समर्पण	१४२

परिशिष्ट

१८	यादों के आईने में- (प्रश्न उत्तर)	१५१
----	-----------------------------------	-----

भक्तामर स्तोत्र : एक दिव्य दृष्टि

१. भक्तामर स्तोत्र का परिचय

भक्तामर स्तोत्र एक अपूर्व भक्तिस्तोत्र है। भक्ति एक त्रिमुखी प्रक्रिया है, जिसके तीन केन्द्रविन्दु हैं - १ भक्त २ परमात्मा और ३ भक्ति। भक्त आत्मा और परमात्मा के बीच सम्बन्ध जोड़नेवाला प्रशस्त भाव भक्ति है। परमात्मा जैसे भाव “स्व” में प्रकट करना परमार्थ भक्ति है।

स्तोत्र में शब्द के द्वारा सबध को जोड़ा जाता है। सम्बन्ध के द्वारा “स्व” और “स्वीय” को प्रकट किया जाता है। इस प्रकार शब्द-दर्शन के द्वारा सबध-दर्शन और सबध-दर्शन के द्वारा स्वरूप-दर्शन की शृंखला (Process Theory) बनती है।

भक्ति का मार्ग सिखाया नहीं जाता, उत्पन्न होता है। भक्ति से आनन्द की उत्पत्ति होती है और आनन्द से कर्म की निवृत्ति होती है। अतः भक्ति के द्वारा स्वतन्त्र सत्ता से अभेद होने पर “स्व-चेतना” का विकास होता है। इस प्रकार भक्ति की यह एक सरल व्याख्या है कि “जो सहज है, परम है, उसका अनुभव करना भक्ति है।”

क्रिया और भक्ति में बहुत बड़ा अन्तर है। क्रिया फल से बाध देती है और भक्ति परम-स्वरूप से मिला देती है। इस प्रकार भक्ति परम-मिलन का महामन्त्र है। रागद्वेष से मुक्त कर वीतरागी बनानेवाला परम मन्त्र है। परमात्मा की सर्वोच्च भावनाओं की स्वीकृति का महातन्त्र है और “स्व” को “स्व” में विलीन करने वाला योजनामय यन्त्र है।

इस प्रकार भक्ति परमात्मा के प्रति प्रेम का अखण्ड स्रोत है। लेकिन यहाँ कोरा भावनात्मक प्रेम (Sentimental attachment) सफल नहीं हो सकता है, यहाँ तो चाहिए वैज्ञानिक प्रेम (Scientific attachment)।

अब हम देखेंगे—भक्ति भावों से ओत-प्रोत अपूर्व भक्तामर स्तोत्र का महत्व, विशिष्टता, सम्बन्ध, परिभाषा और सफलता।

ऐसे देखा जाए तो “भक्तामर स्तोत्र” शब्द स्वयं ही परिचय का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। उसका परिचय करने की अपेक्षा उससे परिचित हो जाना ही जीवन का साधनामय प्रथम एवं अंतिम अध्याय है।

“भक्तामर” यह कितना प्रिय शब्द है। हमारे साथ कई बार साप्ताहिक रिश्तो, सबधों के शब्द—नाम जुड़ते आये हैं, पर कभी हमारे साथ परमात्म शब्द संयुक्त हुआ देखा क्या ?

२ भक्तामर स्तोत्र एक दिव्य दृष्टि

“भक्तामर” यह एक ऐसा शब्द है जिसमें हम परमात्मा के साथ हैं या ऐसा कहें कि परमात्मा हमारे साथ है।

भक्त याने भक्त—आत्मा। “अमर” शब्द का अर्थ देव होता है और दूसरा अर्थ होता है मोक्ष, तीसरा अर्थ होता है जो अमर स्थान को प्राप्त कर चुके, वे परमात्मा—सिद्ध।

कुमार थावच्या की जिज्ञासा “अमर” शब्द को अधिक स्पष्ट करती है।

पड़ौस में सुबह जन्मे बच्चे का जन्म महोत्सव सुनकर थावच्या कुमार अपनी माता से प्रश्न पूछता है—क्या मेरे जन्म के अवसर पर भी इसी प्रकार महोत्सव मनाया गया था? माता के द्वारा अपने जन्मोत्सव पर त्रिखडाधिपति कृष्ण के आने की और इससे भी बढ़कर सम्पूर्ण द्वारिका में जन्मोत्सव मनाने की बातें सुनकर उन्हीं विचारों में दिन व्यतीत करने वाला थावच्या ढलती शाम में कुछ और ही दृश्य देख रहा है और वह था सुबह जन्मे उस बच्चे की मृत्यु का। इस दृश्य ने कई नये प्रश्न उभारे।

माँ ! क्रन्दन क्यों ?

बेटा ! मृत्यु के कारण।

माँ ! मृत्यु क्या है ?

बेटा ! सयोग का वियोग में परिवर्तन।

माँ ! लेकिन यह क्यों ?

वत्स ! यह तो निसर्ग का नियम है, सनातन सत्य है। जिसका जन्म उसकी मृत्यु अवश्य है।

हजारों वर्ष पहले की एक माता अपने प्यारे पुत्र को इन प्रश्नों का उत्तर देती हुई अध्यात्म गर्भित पूरा दर्शनशास्त्र पढ़ा रही है।

थावच्या ने कहा—लेकिन माँ ! जन्मोत्सव तो अच्छा लगता है। परन्तु यह मृत्युजनित रुदन कितना दुःखमय है तो क्या मैं भी मरूंगा और यदि मैं मरा तो क्या आप सब ऐसे ही रोओगे ? मा इसका कोई उत्तर न दे पाई।

उत्सुक थावच्या कुमार परमात्मा नेमिनाथ के समवसरण में गये वहाँ जाकर कहते हैं—‘परमात्मा ! क्या ऐसा कोई उपाय है कि मृत्यु न हो ?’

परमात्मा ने कहा—“हा है, यदि जन्म न हो।”

चरम शरीरी ने पुन पूछा—“भन्ते ! यह अवस्था कैसे सम्पादित की जाती है ?”

“वत्स ! नये कर्मबन्ध को रोक कर और पुराने कर्म बन्धन से मुक्त होकर।”

“भगवान् ! यह अवस्था कैसी होती है ?”

देवानुप्रिय ! सर्व कर्म-रहित “अमर” अवस्था है यह।

“अमर” याने वह स्थान जहाँ जाने पर मृत्यु नहीं होती अथवा “अमर” याने वह जो अब कभी भी मरनेवाला नहीं है, क्योंकि मरता वह है जिसका जन्म होता है। जो

देह-पर्याय से ही सर्वथा रहित है उनका तो जन्म क्या और मृत्यु क्या ? ऐसे परमात्म भाव के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच कर जो कृतकृत्य हो गये, उनके साथ जुड़कर वैसा हो जाना कितना दुरूह है। “भक्तामर स्तोत्र” ऐसी परम सहजावस्था तक पहुँचाने का सम्पूर्ण दायित्व अपने ऊपर लेकर सफल रहा है।

भक्त अर्थात् जीव-आत्मा नवतत्त्वो मे प्रथम तत्त्व। “अमर” याने मोक्ष नवतत्त्वो मे अन्तिम तत्त्व। प्रथम तत्त्व की समापत्ति अन्तिम तत्त्व मे है। आत्मा सहज मुक्तावस्था मे परमात्मा हो जाता है या परमात्मा कहलाता है।

अतः भक्तामर याने आत्मा-परमात्मा का मिलन, आत्मा-परमात्मा का दर्शन, आत्मा-परमात्मा का चिन्तन और अन्त मे परमात्मदशा प्राप्त करने की सर्वश्रेष्ठ सफल साधना है।

योगीराज आनन्दघन प्रभु ने “अमर” शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—

अव हम अमर भये न मरेगे।

जा कारण मिथ्यात दियो तज, क्यूँ कर देह धरेगे

अव हम

मर्यो अनत वार विन समज्यो, अव सुख-दुःख विसरेगे।

“आनन्दघन” प्रभु निपट अक्षर दो, नही समरे सो मरेगे॥

अव हम

इन पक्तियों मे “अमर” शब्द की व्याख्या ओर अमर बनने के उपाय बताये हैं।

यह स्तोत्र “भक्तामर स्तोत्र” के नाम से पहचाना जाता है। इसका सफल कारण यही है कि इसमे परमात्मा के अनुपम गुणों का और वीतरागभाव का अपूर्व वर्णन प्रस्तुत है। इन गुणों को और वीतरागभाव को जो भी भक्त उत्कृष्ट भाव से अपने मे प्रकट करता है वह निश्चित रूप से अजर और अमर बनता है। कर्ममुक्त होता है। भक्त को अमर बनाने का अपार सामर्थ्य इस स्तोत्र मे होने से इसे “भक्तामर स्तोत्र” नाम से अभिप्रेत किया गया है।

इस स्तोत्र के रचयिता मानतुगाचार्य हैं, यह स्तोत्र के अंतिम श्लोक से सिद्ध है। परन्तु, इसके रचना-कालादि के बारे मे मिलने वाले अभिप्राय अनुमानजन्य अधिक होने से अस्पष्ट रहे हैं। इतिहास के अनुसार आचार्य मानतुग अनेक हुए हैं। अतः इस स्तोत्र के रचयिता मानतुग के बारे मे निर्णय लेना दुरूह है। फिर भी अधिक जानकारी के आधार पर घटनाभूमि धारा-अवन्तिका नगरी है। ११वीं सदी के अतकाल मे भारत पर विदेशी आक्रमण आ जाने से हमारी कई महत्वपूर्ण कृतियाँ नष्ट-भ्रष्ट हो गईं। अतः आचार्य मानतुग के जन्म, दीक्षा, जीवन या देहविलय के बारे में आधारभूत विश्वसनीय जानकारी अप्राप्य रही है।

लोकमुख से प्रसिद्ध कथा ऐसी है कि एक बार मानतुगाचार्य धारा-नगरी में पधारे। उस समय मन्त्री आदि उनके दर्शन को गये थे। राजसभा में उनकी अनुपस्थिति ने राजा को उत्तेजित कर दिया। उन्होंने आचार्य को राजसभा में बुलाने का प्रयत्न किया परन्तु समाधिस्थ आचार्यश्री ने इस प्रस्ताव की उपेक्षा की। सेवक समाधिस्थ आचार्यश्री को उसी अवस्था में उठाकर राजसभा में लाते हैं। मौन खोलने का आग्रह करते हैं। आचार्य की निश्चलता को राजा ने अपना अपमान मानकर उन्हें लोहे की कील वध शृङ्खलाओं में जकड़कर कैदखाने में कैद कर दिया।

देह के अनित्य और आत्मा के नित्य स्वरूप ज्ञान में स्थित आचार्य पूरा दिन-रात १२ भावनाओं के चिन्तन में व्यतीत करते हैं। आचार्य परमात्मभाव में जागे बढ़ रहे थे और राजा बेचैनी में आगे बढ़ रहा था। प्रभात का वह प्रथम प्रहर था। जब आचार्य श्री की चितन धारा में उत्कृष्ट श्रद्धा भाव युक्त भक्तिभाव उत्पन्न हुआ।

विवाद किसी भी विषय का रहा हो परन्तु सभी संप्रदायों का सर्वमान्य प्रतिपादन यही है कि वह समय द्वन्द्व का था और आचार्यश्री की निश्चलता को तोड़ने का वह प्रयास था। परन्तु मुनि तो मुनि ही थे। उनके मन में यह ससार तो परमाणुओं की रूपान्तर कथा मात्र हैं, जिनको देखकर परमार्थ की याद आ जाय वही तो मुनि है। स्नेह और सौजन्य की जीवन्त प्रतिमा है। उनके मन में न कोई भेद है, न कोई खेद है। पृथ्वी पर रहते हुए परम में विचरते हैं। अवनि में रहते हुए अविनाशी में एकतार रहते हैं। यद्यपि महापुरुषों के जीवन का मूल्यांकन उनके देहसामर्थ्य, द्रव्य भण्डार या राज्यसत्ता के बहिरंग साधनों द्वारा कभी नहीं आका जाता। उनकी पहचान तो उनके विपुल आत्म-समृद्धि के अंतरंग साधनों से ही होती है।

ऐसे श्री मानतुगाचार्य ने राजा द्वारा डलवाई लोहे की बेड़ियों के बन्धन में बन्धन-भेद की कला सिद्ध की और परमात्मा में एकरूप हुए। इस एकाग्रता में अभेद से नाद प्रकट हुआ, नाद से अश्राव्यध्वनि उद्भूत हुई और उन विशिष्ट ध्वनि तरंगों से उत्पन्न स्तोत्र से लोहे की बेड़ियों के बन्धन टूटे। एक-एक श्लोक का सर्जन होता गया और एक-एक बेड़ी टूटती गई।

हमें विचार आ सकते हैं कि आचार्य के श्लोक सर्जन से लोहे की बेड़ियाँ कैसे टूट सकती हैं? क्या शब्दों से लोहे की बेड़ियाँ कभी टूट सकती हैं?

इस प्रश्न का सनसनाता उत्तर आज का विज्ञान देता है कि हमारी आवाज १८ हजार सायकल पर जाती है तब अश्राव्य हो जाती है। जैसे अश्राव्य ध्वनि को उत्पन्न कराने वाले (Ultra Sonic drill) से सैकड़ों के हजारों भाग में अतिघन माना जाने वाला पदार्थ (हीरा) टूट जाता है। यदि अश्राव्यध्वनि से हीरा टूट सकता है तो अश्राव्य शब्द शक्ति से लोहे की बेड़ी क्यों नहीं टूट सकती? (Ultra Sound technology) का यह सिद्धान्त विज्ञान के क्षेत्र में आशीर्वाद रूप बन गया है।

अश्रुव्यध्वनि के एक करोड़ बीस लाख कपन द्वारा खोपड़ी को खोले बिना, खून की एक बूंद गिराये बिना, दिमाग का Operation होता है। पानी और साबुन के बिना कपड़े धोये जाते हैं। बिना Refrigerator के दूध और फल ताजे रखे जाते हैं। Washington Times के समाचार के अनुसार अमेरिका की Pennsylvania University Hospital के एक Professor Dr. Johan Dely और अन्य कुछ तबीयतों ने इस पर अनुसंधान शुरू किया है। उन्होंने ऐसा सिद्ध किया है कि पारपरिक छुरी की अपेक्षा Ultra Sonic छुरी से Operation सरल रहता है। यह छुरी और कुछ नहीं परन्तु इसमें ध्वनि की सूक्ष्मातिसूक्ष्म लहरों को एक निश्चित प्रवाह में तरंगित करते हैं। रोगी के यकृत में जिस स्थल पर खराब गाठ होती है उसके आस पास Ultra Sound को चलाने से अच्छे कोशों को नुकसान पहुँचाये बिना शल्य क्रिया हो सकती है। सामान्यतः उपयोग में ली जानेवाली छुरी का स्पर्श भी यहाँ नहीं होता है। डॉ. जहोन के अनुसार २५ हजार डालर की कीमत वाले यंत्र के विकास से यकृत की शल्यक्रिया निर्विघ्न और सरक्षात्मक हो गई है।

दूसरे विश्वयुद्ध में बोम्बर विमान बनाने वाले जर्मन निष्णातों ने देखा कि किसी विशेष कारण से विमान के तलभाग का जल्दी से नाश होता है। अनेक खोजों के बाद पता चला कि बोम्ब फँककर विमान दूर चला जाता है, फिर भी विस्फोट से आवाज की शक्ति सपन्न लहरें विमान के साथ टकराने से उसे नुकसान पहुँचता है।

रोगी को बिना वेहोश किए Lithotripter भी शक्तिसपन्न ध्वनि सँकेतों द्वारा पथरी (Stone) तोड़ने का काम करती है। रोगी को सीधा सुलाकर उसके कमर के नीचे रखी Highdrolic Tank में गुर्दे (Kidney) पर सीधा प्रहार होता है। इसमें रोगी को न तो कोई पीड़ा होती है न किरणोत्सर्ग का कोई भय रहता है। इतना ही नहीं Stone तोड़ने की यह सम्पूर्ण प्रक्रिया Lithotripter Monitoring Unity में Screen पर देख सकते हैं।

अतः वैज्ञानिक दृष्टि से यह मान सकते हैं कि आचार्यश्री के ऐसे अपूर्व सर्जन से उनके लोहे की वेड़ियों के बधन टूट गये थे। परमात्मा के साथ भक्तिपूर्ण एकलीनता में उनका निजात्म स्वरूप प्रकट हुआ था। फलतः लोहे की वेड़ियों के साथ परमार्थ को अवरुद्ध करने वाली उनके कर्मों की शृंखलाये भी टूट रही थीं।

ऐसा सब कुछ मान लेने पर भी एक प्रश्न होता है कि इन सबल कारणों से यह स्तोत्र श्रेष्ठ अवश्य है फिर भी इस श्रेष्ठता ने हममें क्या परिवर्तन किया? लोहे की क्या, सूत के धागे का भी टूटने की जहा शक्यता नहीं है वहाँ दर्शन-मोहनीय को तोड़कर परमार्थ की रहस्यात्मक अभेद धारा पर पहुँचने की तो आशा भी कैसे की जाय? सर्जन किया मुनि ने, मुना परनात्मा ने, लोहे की वेड़िया टूटी मानतुगाचार्य की, हमें इस स्तोत्र से क्या लाभ? आचार्यश्री ने इस स्तोत्र से हमें क्या दिया?

इन प्रश्नों पर जब मैं सोचती हूँ तब निसर्ग की निःसीमता में इस स्तोत्र का नामकरण मुझे एक चिर, स्थायी और सतुलित समाधान प्रस्तुत करता है कि यहाँ किसी की

६ भक्तामर स्तोत्र · एक दिव्य दृष्टि

Monopoly नहीं है। सब का समानाधिकार है। “Pay the Price” मूल्य चुकाओ, चीज तुम्हारी ही है। “भक्त” और “अमर” ये दो अद्भुत शब्द रखकर आचार्यश्री ने सम्पूर्ण जैन दर्शन का तारतम्य प्रस्तुत कर दिया है। आगे “सम्यक् प्रणम्य” शब्द रखकर स्तवन और नमन का सामजस्य प्रस्तुत कर स्तोत्र की सफलता का उपाय बताया है। प्रथम नमस्कार कर फिर स्तवन करूँगा। जहाँ नमन होता है वहाँ स्तवन अपने आप ही हो जाता है। बिना नमन का स्तवन अधूरा है। हम स्तवन करते हैं परन्तु नमन नहीं करते हैं।

नमन द्वारा परमात्मा को दिए गए सम्मान के दान से एक बहुत बड़ा प्रतिदान मिलता है। यह प्रतिदान याने शाश्वत आत्मा का ज्ञान होता है। स्व-स्वरूप का अनादिकाल से रहा विस्मरण ही अनन्त दुःख का मूल है, और उसका स्मरण अनन्त सुख का बीज है। अतः नमन का फल अक्षय है। नमन आत्म-निवेदन रूप भक्ति का एक प्रकार है। नमन द्वारा भक्त का परमात्मा के साथ तात्त्विक सबंध स्थापित होता है। भाव और भक्ति से ढली हुई पलको वाला झुका हुआ मस्तक नमन है और सर्व समर्पण का अंतिम दाव स्तवन है। इसीलिए आनन्दधन महायोगी कहते हैं—“कपट रहित थई आत्म अरपणा” । कपट छोड़ दो, घमड़ छोड़ दो, दम्भ और पाखंड भी छोड़ दो। जैसे हो वैसे यथावत् परमात्मा के समुख प्रस्तुत हो जाओ, अर्पित हो जाओ। उनके चरण पकड़ लो। उन्हें कह दो—तेरे सिवा मेरा कोई नहीं है।

यह है—कपट रहित आत्म अरपणा। यही है सच्चा स्तवन। ऐसे स्तवन से बेड़ियाँ टूटती हैं, अनादि काल का “स्व” को आवरण करने वाला मिथ्यादर्शन टूटता है, जनम-जनम के पाप टूटते हैं और वीर्य प्रकट होता है। प्रगटे हुए वीर्य से समस्त विषय-कषायों का नाश होता है। वीर्योत्साह और परिणाम का अभिषेक करने की अमाप क्षमता भक्तामर स्तोत्र में है। ऐसे सत्त्व सम्पन्न परिणाम में सबके श्रेय का स्वाभाविक नाद सुनाई देता है। ऐसा अश्राव्यकोटि का नाद समग्र चित्ततत्र की कार्यक्षमता में अपूर्वता प्रकट करता है।

अतः जिन्होंने स्थलकाल के बाह्य स्वरूप की मर्यादाओं का त्याग कर दिया, उन्हें पुनः स्थल और काल के लोह पिंजर में पूरने का निरर्थक प्रयास नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो ससार की भव-प्रपञ्चमूलक मर्यादाओं को पार कर गये, वे सीमाहीन बन गये। सीमाएँ जब निःसीम तत्वों में खो जाती हैं, वहाँ हृदय का विसर्जन होता है। जहाँ हृदय का विसर्जन होता है वहाँ असीम का सर्जन होता है। जहाँ-जहाँ और जब-जब ऐसा होगा, वहाँ-वहाँ और तब-तब मानतुगाचार्य का जन्म होगा और वहाँ-वहाँ भक्तामर स्तोत्र का सर्जन होगा और वहाँ लोहे की बेड़ियाँ टूटेंगी।

इस प्रकार भक्तामर स्तोत्र भक्ति के प्रत्येक क्षण में प्रत्येक भक्त को सदा सर्वदा स्वतंत्र मूल्यांकन देता है। चाहे वह कोई भी स्थल हो, चाहे वह कोई भी काल हो।

यह बात निश्चित है कि भक्तामर स्तोत्र का परमार्थ अत्यन्त भेदपूर्ण, सर्वथा गुप्त और अव्यक्त है। इसके परम को प्रगट करना परमार्थ है। परमार्थ मिलने पर इसके चितन,

मनन और ध्यान करने वालों को यह स्तोत्र अष्ट ऋद्धि, नव निधि, अनेक सिद्धि और अन्त में अनन्त अव्यावाध आत्मिक सुख को देने वाला है। इसका गूढ़ार्थ इतना उच्च शिखर पर पहुँचा हुआ है कि यह अज्ञानी की समझ में ही नहीं आ सकता है। इस काव्य में अनेक मन्त्र हैं। इसका प्रत्येक चरण, पद और अक्षर चमत्कारी है।

वसततिलका छद का इसमें प्रयोग है। छद याने आल्हाद, आनन्दजनक लय। इसके प्रत्येक श्लोक में चार पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्ति में पहला, दूसरा, चौथा, आठवा, ग्यारहवा, तेरहवा और चौदहवा ये सात अक्षर गुरु हैं। तीसरा, पाँचवाँ, छठा, सातवा, नववा, दशवा और बारहवा ये सात अक्षर लघु हैं। इस प्रकार प्रत्येक पंक्ति में कुल १४ अक्षर हैं जो चौदह गुणस्थानक या चौदह पूर्व के स्मृति-प्रतीक हैं। इस व्यवस्था में लघु अक्षर के बाद सयुक्ताक्षर, हो या उसके साथ अनुस्वार या विसर्ग जुड़े हो अथवा वहाँ पंक्ति की पूर्णता होती हो वहाँ वह लघु अक्षर भी गुरु माना जाता है।

स्तोत्र वह है जिसमें स्तव और स्तुति दोनों हो। एक तो परमात्मा के गुणों का स्तवन करना और उनका स्तवन करते हुए स्वयं के अवगुणों को परमात्मा के सामने प्रकट कर परमात्मा के गुणों को आत्मसात् करना स्तुति है। “उत्तराध्ययन” के २९वें अध्याय में कहा है —

“धवधुङ्मगलेण भन्ते । जीवे किं जणयइ?

धवधुङ्मगलेणं नाण-दंसण-चरित्तबोहिलाभं जणयइ।

नाण-दंसण-चरित्त-बोहिलाभ सपन्ने य णं जीवे अन्तकिरिय कप्पविमाणोववत्तिगं आराहणं आराहेइ।

स्तवन और स्तुतिरूप मगल से ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप बोधिलाभ की प्राप्ति होती है। ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप बोधिलाभ से सपन्न जीव ससार का अंत कर निर्वाण प्राप्त करता है, या कल्प विमान में आराधना करने वाला होता है।

इस स्तोत्र में श्लोक १ और २ लक्ष्य को निश्चय से प्राप्त करने का ध्येय प्रकट कर जीवन की महान् साधना का रहस्य प्रस्तुत करते हैं।

तीसरे श्लोक में परमात्मा के सन्मुख होने पर साधक के लिए अनिवार्य स्व-पहचान का ध्येय प्रस्तुत है।

४ से ७ तक के श्लोकों में साधक को परमात्मा से अपना सम्बन्ध स्थापित करने की सफल कला दर्शायी है।

श्लोक ८ में सबध स्थापित होने के बाद की साधक की स्थिति का वर्णन है।

श्लोक ९ को जिनेश्वर की आराधना से समस्त दुरितों को दूर करने के सामर्थ्यवाला बताया है।

८ भक्तामर स्तोत्र एक दिव्य दृष्टि

श्लोक १० से ३७ तक में परमात्मा का प्रत्यक्षीकरण अर्थात् परमात्मा सामने ही हो, ऐसा परमभाव प्रस्तुत है।

श्लोक ३८ से ४७ तक में विविध भय, जो जीव की आन्तरिक कषायों के प्रतीक हैं, उनके निवारण के उपाय प्रस्तुत किये हैं।

श्लोक ४८ में स्तोत्र करने का फलितार्थ अंतिम ध्येय (मोक्ष) लक्ष्मी की प्राप्ति बताया है।

आज हम स्तोत्र से परिचित हुए हैं। स्तोत्र का ध्येय परमात्मा का परिचय देना और हमारा अपना परिचय प्रकट करना है। अतः हम अब परमात्मा का परिचय करने का प्रयत्न करेंगे।



२. परमात्मा का परिचय

आज दूसरे प्रवचन के माध्यम से हम परिचय के द्वितीय परिच्छेद को अनावृत करेंगे। अतः आज के प्रवचन का विषय है “परमात्मा का परिचय”।

यद्यपि परमात्मा का परिचय हमारा अपना परिचय है फिर भी यह इतना गहरा है, जिसके बिना सारी साधना अधूरी है। कितने ही जन्म बीते हम अनेक परिचयों से जुड़ते गये, अनेक परिचयों से टूटते गये, लेकिन हम कभी नहीं मिला पाये, एक शाश्वत नित्य और स्थायी परमात्म-परिचय को, कभी नहीं जुटा पाये परमात्म-संघ को।

जो सम्पूर्ण इन्द्रियातीत हैं, सम्पूर्ण देहातीत हैं, समस्त बाह्य पर्यायों से जिनका सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका है, उन्हें हमारी बुद्धि, शब्द या इन्द्रियों के विषय बनाकर परिचय पाना अत्यन्त दुरूह है इसीलिए आचाराग सूत्र में कहा है—

“सर्व्वे सरा णियदट्ठति। तक्का तत्थ ण विज्जई। मई तत्थ ण गाहिया।

ओए अप्पइट्ठाणस्स खेयण्णे।

से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्ठे, ण तसे, ण चउरंसे, ण परिमडले।

ण किण्हे, न णीले, ण लोहिए, ण हालिहे, ण सुक्किल्ले।

ण सुत्थिगघे, ण दुरभिगन्धे।

ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अविस्से, ण महुरे।

ण कक्कडे, ण मउए, ण गुरुए, ण लहुए,

ण सीए, ण उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे।

ण काउ, ण रुहे, ण संगे।

ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अण्णहा परिण्णे सण्णे।

उवमा ण विज्जए। अरुवी सत्ता।”

—आचा श्रु १, अ ५, उद्दे ६, सु ५९२-५९४

(परम-आत्म-स्वरूप का वर्णन करने में) सब शब्द लौट आते हैं, (जिनको जानने में कोई तर्क सफल) नहीं होता है। बुद्धि द्वारा भी अग्राह्य है।

(वह अत्यन्त) आभा-मय होता है, वह अप्रतिष्ठान (मोक्ष) मय है, उसकी (केवल) (ज्ञाता) (द्रष्टा) अवस्था होती है।

(परम-आत्मा) न बड़ा है, न छोटा है, न गोल है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, न परिमण्डल है।

न काला है, न नीला है, न लाल है, न पीला है और न सफेद है।

(वह) न सुगन्धमय है, न दुर्गन्धमय है।

(वह) न तीखा है, न कड़ुवा है, न कषैला है, न खट्टा है, न मीठा है।

(वह) न कठोर है, न कोमल है, न भारी है, न हलका है, न ठण्डा है, न गर्म है, न चिकना है, न रूखा है।

(वह) न लेश्यावान है, न उत्पन्न होनेवाला है, उसको किसी में आसक्ति नहीं है।

(वह) न स्त्री है, न पुरुष है और न इसके अतिरिक्त (नपुसक) है।

(वह) ज्ञाता है, संज्ञा है—(सर्वत चैतन्यमय है।)

(उसके लिए कोई) तुलना नहीं है, (वह) एक अमूर्तिक सत्ता है।

अतः परमात्मा को पहचानने के लिए, पाने के लिए हमें अपनी देहातीत, इन्द्रियातीत अवस्था तक पहुँचना होगा।

प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि स्तोत्र में “स्तवन” और “स्तुति” दोनों होते हैं। “भक्तामर स्तोत्र” इस व्याख्या को सिद्ध करने में बहुत अधिक सफल रहा है। प्रथम दो श्लोको में परमात्मा का परिचय है। तीसरे श्लोक में भक्त स्वयं का परिचय देता है। और आगे दोनों के परिचयों की भेद-रेखा का पूर्ण विराम है। अभेद की प्रयोगशाला में प्रवेश है।

इस प्रकार मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्तमान, परम वीतराग परमात्मा के आश्रयवान् और हम सर्व की स्वरूप प्राप्ति में परम प्रेरणा रूप मानतुगाचार्य के हृदय में प्रभात के प्रथम प्रहर में पधारे, परम स्वरूप को प्राप्त, परम परित्राता परमात्मा। बधन की वेदना विस्मृति में खो गई। स्मृतिलोक में पधारे आदीश्वरनाथ। तात्त्विक सबध का प्रारम्भ हुआ। आत्मप्रदेशो में निर्मलता आ गई। अनाहत नाद में स्तोत्र का सर्जन हुआ। नाद अश्राव्यध्वनि में उद्भूत होता गया। उद्भूतता भाषा में प्रकट हुई—

भक्तामर-प्रणतमौलि-मणिप्रभाणा-
मुद्योतकं दलित-पापतमो-वितानम्।
सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुग युगादा-
वालम्बन भवजले पतता जनानाम् ॥१॥

यः सस्तुतः सकलवाङ्मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूत-बुद्धि-पटुभिः सुरलोकनाथैः।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितय-चित्तहरैरुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि त प्रथम जिनेन्द्रम् ॥२॥

परम तत्त्व के अनुसन्धान में सत्कृत, नित्यने परब्रह्म ज्ञान होने का स्तुति? इत्यादि समाधान इस श्लोक का परमार्थ करता है—

प्रथम जिनपादयुग सम्यक् प्रणम्य, अहं स्तोष्ये

प्रथम सम्यक् प्रणाम करके (किर बाद में) मैं भी स्तुति करूँगा।

जिन चरणों ने प्रथम नमस्कार करते हैं। वे चरण युक्त कैसे हैं? उन चरणयुक्त का स्वरूप-परिचय, वर्णन, विशिष्टता, महत्त्व और परिणाम यहाँ प्रस्तुत है—

१ भक्तामरप्रणतमालिमणिप्रभाणामुद्योतकम्—

भक्त देवों के प्रकृष्ट भाव से नने हुए नुक्तों के नयनों की कान्ति के उद्योत (प्रकाश) को करने वाले,

२ दलितपापतमोवित्तानम्—

पापरूपी तमस् अर्थात् अन्धकार के विस्तार को, सनूह को नष्ट करने वाले,

३ भवजले पतता जनानाम् आलम्बनम्—

ससार रूपी सागर के अर्थात् जल में पड़े हुए—गिरते हुए मनुष्यों के आलवन रूप, आधारभूत।

जिन चरणों में नमस्कार कर रहे हैं और जिनकी हम स्तुति करने जा रहे हैं, वे कौन हैं? कैसे हैं?

सकलवाङ्मयतत्त्वबोधात्	-	समस्त शास्त्रों के तत्त्वज्ञान से
उद्भूतबुद्धिपटुभि	-	उत्पन्न हुई बुद्धि से चतुर—ऐसे
सुरलोकनाथ	-	देवेन्द्रों द्वारा
जगत्त्रितयचित्तहरै	-	तीनों जगत् के चित्त को हरण करने वाले—ऐसे
उदारे	-	उत्कृष्ट गभीर अर्थवाले
स्तोत्रे	-	स्तोत्रों—स्तवनों के द्वारा
य सस्तुत	-	जो सम्यक् स्तवन के पात्र हैं,
युगादी	-	युग की आदि में—
त	-	उन
प्रथम जिनेन्द्रम्	-	प्रथम तीर्थंकर की—
किल	-	निश्चय से
अहं अपि	-	मैं भी
स्तोष्ये	-	स्तुति करूँगा

अब हम एक-एक शब्द का खोलकर उसे समझने का प्रयास करें—

- १ भक्त—आत्मिक सम्यक् परिणति भक्ति कही जाती है। ऐसी भक्ति जिसके हृदय में हो वह भक्त है। इसीलिए कहते हैं—

“भक्तिभर निम्बरेण हि अयं”

- २ अमर—इस शब्द के यहाँ चार अर्थ होते हैं—

- १ जिसकी मृत्यु न हो वे अर्थात् परमात्मा। इनका सम्यक् स्मरण, आलवन ग्रन्थ, प्रणमन और उम पद की उपलब्धि।

- २ जो इनके प्रति श्रद्धाभावों को प्रकट कर स्वयं में वीतरागभावों को उभारता है वह स्वयं अमर ऐसे परम पद को प्राप्त होता है।

- ३ अमर—इसे यदि अवस्था का द्योतक माने तो यह निर्वाण या मोक्ष तत्त्व का प्रतीक है।

- ४ सामान्य में यह देव पद का द्योतक है।

- ३ प्रणतमौलि—मौलि=मुकुट—जो मस्तक पर धारण किया जाता है। प्रणत याने प्रकर्ष भाव से झुका हुआ। साधक का मस्तक झुका हुआ है।

- ४ मणिप्रभा—यह हमारे नाभि में स्थित मणिपूर चक्र का प्रतीक है। जिसे साधना में बड़ा महत्वपूर्ण माना गया है।

- ५ पादयुग—पाद याने चरण और युग याने जुड़ा हुआ।

इस प्रकार इसमें मस्तक से लेकर चरण तक की एक गुप्त महासाधना का संकेत है। जिसके माध्यम से साधक अपनी ऊर्जा को प्रकट कर अनन्त कर्मों का क्षय कर सकता है। और उनके (कर्मों के) प्रभाव से प्रकट लोहे की वेडियों के बन्धन भी इस साधना से सहज टूट सकते हैं।

हमारी चेतना पैर से लेकर मस्तिष्क तक संवेदनशील है। इसी कारण डॉक्टर संवेदना का परीक्षण पैर में पीन (pain) लगाकर करते हैं।

हम नमस्कार करेंगे तो कहाँ करेंगे ? माथे पर क्या ? नहीं ! चरणों में ! चरणों में क्यों करते हैं कभी आपने सोचा है क्या ? और झुकाया क्या जाता है ? मस्तक ! हमारे हाथ और पैरों में से विद्युत्कण (Electron) पैदा होते हैं। साधना के समय हम में से ऊर्जा पैदा होती है लेकिन दोनों पैरों को जमीन से सीधा स्पर्श कर रखते हैं तो सारी ऊर्जा धरती में समा जाती है। बिजली जब गिरती है तो जमीन में समा जाती है। इसी प्रकार यह ऊर्जा भी में समा जाती है। कायोत्सर्ग मुद्रा ऊर्जा को शरीर में समा देने की विशेष मुद्रा है

१. ५ इसका महत्व रहा है। पद्मासन में बैठकर बाहिना हाथ नीचे दाहिना हाथ ऊपर रखकर गोलाई में हथेलियों को जमाने से ऊर्जा अगुलियों और अगूठों के माध्यम से Flow होती है। मस्तक इस ऊर्जा को अपने में Absorb करता है, सम्पादित करता है।

इसीलिए महापुरुषों के चरणों में झुकने से उनकी देहपर्याय से निकलती विशिष्ट ऊर्जा को नमन करने वाला अपने मस्तक से इन्हें धारण करता है। आशीर्वाद भी हाथों से दिया जाता है क्योंकि ऊर्जा वहाँ से निकलती है। यह सारी आभा आशीर्वाद के द्वारा मस्तक में प्रवाहित की जाती है।

सिर से पैर तक विस्तृत शरीर में ६०० अरब कोशिकाएँ हैं। ७ हजार २०० शिराएँ, ७० हजार माइल विस्तार में व्याप्त हैं। सात चक्र हैं। आठ ग्रन्थियाँ हैं।

आचाराग सूत्र के श्रुतस्कन्ध १ अध्ययन १ के उद्देशक २ में जीव की संवेदना के ३२ अंग बताये हैं। इसका क्रम भी पैर से लेकर सिर तक दिया है। जैसे—१ पैर, २ टखने, ३ जघा, ४ घुटने, ५ उरु, ६ कटि, ७ नाभि, ८ उदर, ९ पार्श्व-पसल, १० पीठ, ११ छाती, १२ हृदय, १३ स्तन, १४ कन्धे, १५ भुजा, १६ हाथ, १७ अंगुली, १८ तख, १९ ग्रीवा (गर्दन), २० टुड्डी, २१ होठ, २२ दाँत, २३ जीभ, २४ तालु, २५ गला, २६ कपोल, २७ कान, २८ नाक, २९ आँख, ३० भोह, ३१ तलाट, ३२ शिर।

रक्षावच स्तोत्र जिन पंजर में सिर से पैर तक २४ मुख्य संवेदना-स्थानों में २४ तीर्थकरा की प्रतिष्ठा कर ऊर्जा को तरंगित और प्रवाहित करने की साधना दर्शायी है।

यही साधना परिक्रमा “मालिमणिप्रभाणाम्—पादयुग” पद में निहित है।

परमार्थ की दूसरी दृष्टि से देखने पर—

- १ भक्तामरप्रणतमालिमणिप्रभाणामुद्योतकम्—यह पद परमात्मा के अनन्त पूजातिथय का द्योतक है।
- २ दलितपापतमोवितानम्—यह पद अपायापगमातिथय की ओर संकेत करता है।
- ३ भवजले पतता जनानाम् आलम्बनम्—यह पद ज्ञानातिथय का सूचक है। जीव तो अभी कर्मों से आवृत होने से अज्ञानी है अतः परमात्मा के ज्ञान का आलम्बन ग्रहण करता है।
- ४ सकलवाङ्मय तत्त्वबोधात्—यह पद द्वादशांगी का प्रतीक है। आर द्वादशांगी परमात्मा के त्रिपदीरूप वचनातिथय से प्रकट होती है।

इसका तीसरा परमार्थ है—“प्रणत” शब्द का अर्थ है प्रकर्षभाव में नमस्कृत। तात्पर्य से यह उन्मत्कार महामन्त्र से गर्भित है।

- १ “युगादा-प्रथम जिनेन्द्रम्”—यह पद शब्दों से परमात्मा ऋषभदेव की “अरिहता” पद्याय का स्वरूप प्रस्तुत करता है। अतः “प्रणत” शब्द “नमो अरिहताय” मन्त्र से गर्भित है।
- २ “वर्तमान ये य परमात्मा सिद्ध स्वरूप ह” और “अनर” पद परमात्मा के विषय कल्याण के बाद की स्थितिवाला है अतः “प्रणत” शब्द “नमो सिद्धाय” मन्त्र का द्योतक है।

३ अहं स्तोष्ये—शब्द मे निहित “मै” स्तुति करने वाला के अभिवाचक आचार्य श्री मानतुग स्वयं उस काल के इतिहास प्रसिद्ध आचार्य हैं। वर्तमान में हम उनसे अभेद कर स्तोत्र चैतन्य जगाते हैं अतः “प्रणत” शब्द में “नमो आयरियाण” निहित है।

४-५ आचार्य में उपाध्याय और साधु के सहज गुण निहित होते हैं अतः इसी से “नमो उवज्झायाण” और “नमो लोए सव्वसाहूण” ये दो मंत्र निहित हैं।

परमार्थ से चौथा रहस्य है—इसमें निहित नवतत्त्वात्मक विश्लेषण। भक्त जीव है प्रथम तत्त्व। उसका प्रतिपक्षी तत्त्व अजीव है। जब तक जीव अमर याने मोक्ष पद को नहीं प्राप्त करता है तब तक कर्म-पुद्गल-अजीव से सतत सबधित रहता है।

“सम्यक् प्रणम्य” शब्द पुण्य का द्योतक है, क्योंकि पुण्य के नव प्रकारों में सर्वश्रेष्ठ सर्वथा महत्त्वपूर्ण नमस्कार पुण्य है। “दलित पापतमो वितानम्” पद पापतत्त्व का द्योतक है।

जीवाजीव की पारस्परिक क्रीडा-रति से जीव में अजीव का आस्रव होता है।

‘सम्यक् प्रणम्य जिनपादयुग’—पद जीव के इस भौतिक खेल को बद करने रूप सवर तत्त्व की ओर इंगित करता है।

समस्त पापकर्मों को “दलित” करना अपने आप में “निर्जरा तत्त्व” हैं।

जीव-अजीव का परस्पर सायोगिक सबध “बधतत्त्व” है।

“अमर” पद अंतिम “मोक्षतत्त्व” का प्रतीक है।

पाचवे रहस्य में इसमें परमार्थ से षड्द्रव्य निहित हैं।

१ आलम्बन—याने सहारा। जो गति में सहायता प्रदान करे वह धर्मास्तिकाय है। परमात्मा के चरणों का आलम्बन हमारे मोक्षमार्ग की गति में सहायता प्रदान करता है।

२. “अहम् किल स्तोष्ये”—यहाँ किल शब्द निश्चय का सूचक है। अधर्मास्तिकाय स्थिरता करने वाला है। आराधना में नैश्चयिक स्थिरता लाने वाला स्तोत्र हमारी आध्यात्मिकता का अधर्मास्तिकाय है।

३ आकाशास्तिकाय याने (Space) देने वाला। अर्थात् विस्तार। यह वितानम् शब्द से परिलक्षित होता है।

४ पाप आदि पुद्गल होने से पुद्गलास्तिकाय है।

५ भक्त याने जीव। अजीव कभी भक्ति करता नहीं अतः भक्त शब्द जीवास्तिकाय है।

६ “युगादौ” में प्रयुक्त “युग” शब्द विशेष काल का सूचक है।

इस प्रकार ये दो श्लोक परमार्थ से पङ्द्रव्यात्मक लोक स्वरूप होकर भी लोकाग्र का परम कारण स्वरूप हैं। “स्तोष्ये किलाहमपि त प्रथम जिनेन्द्र” का परमार्थ इस प्रकार है—

‘तं’ याने उन। किसी तीसरे पुरुष के लिए इस “त” का प्रयोग हुआ है। ध्याता और ध्यान में ध्येय निश्चित होने पर भी सामने अस्पष्ट है। “भक्तामर स्तोत्र” में यही एक ऐसा स्थान है जहाँ परमात्मा परोक्ष म रहकर साधक का ध्येय रहा है। आगे जाकर “त” का स्थान प्रत्यक्ष रूप विविध सवोधनो से परिलक्षित हो जाता है।

प्रथम शब्द सामान्यतः से प्रथम आदीश्वरनाथ का घोटक है और विशेष से यह प्रणाम और स्तुति में प्रणाम को प्राथमिकता देने के रूप में भी अधिक अर्थ सगत होता है। नवकार मन्त्र की चूलिका में नमस्कार को “पद्म हवद् मंगलम्” से प्रथम मंगल कहा है। अर्थात् ‘त जिनेन्द्र प्रथम सम्यक् प्रणम्य’—उन जिनेन्द्र को प्रथम नमस्कार कर बाद में “किल”—निश्चय से “अहं स्तोष्ये” स्तुति करूँगा।

स्तोत्र होने से इसमें स्तुति मुख्य है फिर भी मुख्य से प्रथम का महत्त्व दर्शाना इस श्लोक का अभिप्राय रहा है। जैसे विद्यार्थी का परीक्षा में सफल होना मुख्य है परन्तु इससे प्रथम पढ़ना अनिवार्य है। भोजन मुख्य है परन्तु प्रथम आटा, चूल्हा अनिवार्य है। साधक के लिए मोक्ष मुख्य है परन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रथम कर्मक्षय आवश्यक है। इस प्रकार परम-मिलन के लिए स्तोत्र मुख्य है परन्तु प्रथम नमस्कार अनिवार्य है।

“जिनेन्द्र” शब्द से तीर्थंकर पद का संकेत है। वैसे “जिन” या “तीर्थंकर” में विशेष अन्तर नहीं है। ज्ञान की दृष्टि से एक समान हैं। अन्तर सिर्फ तीर्थंकर के विशेष तीर्थंकर नामकर्म का है। इस कर्म के प्रभाव से इनके द्वारा कई जीव पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति में सफल रहते हैं। अतः यहाँ गिनो के (अनेक केवलियों के) स्वामी जिनेन्द्र ऐसा कहा गया है।

“किल” याने निश्चय से। साधना में निश्चयात्मक परिवल का अत्यन्त महत्त्व है। दृढ़ता से साधक परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता है।

जब साधक किसी भी साधना का प्रारम्भ सकल्प के साथ करता है तो उसे सफलता निश्चित रूप से मिल सकती है। “मैं निश्चय से स्तुति करूँगा” ऐसा सकल्प करते ही आचार्यश्री के ध्यान में परमात्मा पधारते हैं।

भक्ता का मस्तक झुका हुआ है, आँखें बन्द हैं, अन्तर्भन में, समस्त आत्मचेतना में, समस्त आत्मप्रदेशों में परमात्मा का एक-रूप ध्यान है। परमात्मा ने भक्त के मस्तक पर हाथ रखा और कहा—

“दत्त ! मैं स्तुति करूँगा—ऐसा निश्चय करने वाला तू है कौन ? तेरा परिचय दे।”

भक्ता परमात्मा को क्या उत्तर देगा, कैसे परिचय देगा ? यह हम “भक्तामर स्तोत्र” के तीसरे श्लोक के माध्यम से देखेंगे। जो भी भक्त है वे सब परमात्मा के इस प्रश्न को स्वयं के माध्यम से समझने का प्रयास करेंगे।

३. आत्मा का परिचय

बदलती हुई परिस्थितियाँ, सासारिक घटनाएँ इतनी तीव्रता से, इतने वेग से आती-जाती हैं कि बीच में रिक्तता की कोई स्थिति ही नहीं बन पाती है। ये परिस्थितियाँ या घटनाएँ कुछ अनुकूल होती हैं, कुछ प्रतिकूल होती हैं। राग-द्वेष के माध्यम से हम इनमें घुल-मिल जाते हैं।

इसे सोचने के लिए बल प्रदान करने वाला आध्यात्मिक जगत् इस पार्थिव जगत् से बिल्कुल भिन्न है। हा, फिर भी कहीं कोई ऐसा रेखातट है जहाँ ये दोनों स्पर्श-रेखाएँ एक दूसरी से मिलती हैं। डॉयलॉग करती हैं। ज्यामिति रेखागणित में जिस तरह स्पर्शरेखा होती है ऐसी स्पर्शिता अध्यात्म के साथ हमारी होती है। ऐसे अवसर को जीवन में Chance कहा जाता है, मौका कहा जाता है। यदि उस अवसर को हम हाथ से खोते हैं तो बहुत बड़ी उपलब्धि को अपने जीवन से खो देते हैं।

घटनाओं के माध्यम से हम देख रहे हैं कि एक ऐसे क्षेत्र में मानतुगाचार्य का प्रवेश हुआ है जिस क्षेत्र में सिर्फ मानतुगाचार्य का ही नहीं सम्पूर्ण जैन धर्म का विरोध चल रहा था। अवन्तिकानरेश के एक मन्त्री ने मानतुगाचार्य को आमन्त्रण दिया था कि आप मेरी नगरी में पधार कर किसी न किसी प्रकार जैन धर्म, जैन शासन का कुछ न कुछ प्रभाव इस क्षेत्र में पड़े, ऐसा कुछ कीजिए। और विनती को मान्य करते हुए मानतुगाचार्य अवन्तिका नगरी में पधारे। मैंने आप से पहले ही कहा था कि प्रभात के प्रथम प्रहर में उनका पदार्पण हुआ था। आते ही सत् अपने नियमानुसार ईर्यापथिकी क्रिया में लगते हैं। ईर्यापथिकी साधना में तल्लीन आचार्यश्री को राजा किस कारण से बदी बनाते हैं, यह जानना बड़ा महत्वपूर्ण है।

राजा का यह मानना था कि जब मेरी सभा को मैं सम्बोधित करूँ तो सभा के सभी मन्त्री मेरे सामने होने चाहिये। उस समय एक मन्त्री के वहाँ नहीं रहने से पूछताछ करने पर पता चला कि कोई जैन सन्त आ रहे हैं, उनकी अगवानी करने के लिये, उनका स्वागत करने के लिए वे वहाँ गये हैं। बस मात्र इतनी ही घटना से दूसरे मन्त्रियों ने राजा के कान भरे कि सन्त का सम्मान तो राज्य की ओर से होना चाहिए। लगता है, मन्त्री कुछ न कुछ राजनीति खेल रहे हैं। इस प्रकार के समाचार सुनकर महाराजा भोज गुरु को राजसभा में बुलाते हैं पर सत् वहाँ पधारते नहीं हैं। अपने नियमानुसार ईर्यापथिकी साधना में लीन हैं और उनको उसी निश्चलता में उठाकर कैदखाने में बदल कर दिया जाता है।

घर घटनाओं का हो जाना हमारे लिये कोई विशिष्ट बात नहीं है। हालांकि भावावेश में कभी-कभी लगता है कि सतों के ऊपर ऐसे उपसर्ग हमारे सवेदनशील मानस को उर्देलित अवश्य कर देते हैं, परन्तु घटनाओं को घटनाओं के स्थान पर छोड़कर हमें इंगे ममज्ञाना है।

“भक्तामर स्तोत्र” को अब हम द्विगुणित रीति से देखेंगे। पार्थिव जगत की दृष्टि से घटनाएँ कैम-कैमे वर्तुल लाती हैं और कैसे मानतुगाचार्य घटनातीत होते जाते हैं। दूसरे धगतल पर आध्यात्मिक जगत में जहाँ हम पहुँच जाते हैं तो परमात्मा से भेंट करते-करते अपने आध्यात्मिक विकास की ओर आचार्यश्री कैसे आगे बढ़ रहे हैं। दोनों चीजों को हमें एक साथ देखना है क्योंकि हम दोनों जगत में जीना चाहते हैं। पार्थिव जगत हमारे सामने है और आध्यात्मिक जगत की ओर हम आगे बढ़ना चाहते हैं। इन दोनों का सामंजस्य स्थापित किये बिना हम आध्यात्मिकता को अपने जीवन से नहीं जोड़ सकते हैं। केवल आध्यात्मिकता में जीना भी हमारे लिये कठिन है क्योंकि घटनाएँ सतत हमारे साथ घटित होती जाती हैं।

हम देख रहे हैं कि प्रभात के प्रथम प्रहर में ध्यानस्थ आचार्यश्री को लोहे की वेड़ियों की नृखलाआ में बाधकर, अवन्तिका के बाहर एक अंधेरी कोठरी रूप कारागृह में रखा जाता है। वहाँ दो पहरेंदार हैं। आचार्यश्री ने अपना ध्यान खोला नहीं। लक्ष्य में जरूर आया कि एक उपसर्ग से मैं बाधित हो रहा हूँ। तत्क्षण ही उन्होंने अपने गुरु मंत्र के माध्यम से परमात्मा के साथ एकरूपता स्थापित करने का प्रयास किया और उनका प्रयास सफल रहा। यह स्थिति हमारे सामने मौजूद है। आचार्यश्री ने वेड़ियों के वधन को विस्मृति में खो दिया और स्वयं अन्तर्ध्यान में लीन हो गये। उनके स्मृति लोक में पधारें आदीश्वर नाथ। वेड़ियों के बन्धन टूटते गये। उनके भीतर से एक नाद प्रकट हुआ। वह नाद इतना अद्भुत था कि वह अश्राव्य ध्वनि में तरंगित होकर प्रकट होता गया। उसकी प्रकटता “भक्तामर स्तोत्र” के माध्यम से हमारे सामने उपलब्ध है।

‘तं प्रथमं जिनेन्द्रं प्रणम्य किल अहम् अपि स्तोष्ये’ अर्थात् “उन परमात्मा के चरणों में प्रणाम करके मैं निश्चय ही स्तुति करूँगा” स्तुति के पहले भक्त ऐसा दृढ़ सकल्प करता हुआ परमात्मा के चरणों के ध्यान में लीन होता है। लीनता आने पर दीनता टूटती है, भेद मिटता है। अभेद से आत्मप्रदेशों में निर्मलता आती है और परम आनन्दधाम परमात्मा ध्यानालोक में पधारते हैं। “त” याने “वह” जो था अब प्रकट हो गया, सामने आ गया।

भक्त ने चरणों में मस्तक रखा। परमात्मा ने शुक्ले मस्तक पर हाथ रखकर कहा—
‘वत्स !’ न स्तुति करूँगा” ऐसा कहने वाला तू कौन है? तेरा परिचय दे।

भक्त क्षुब्धलाया। जीवन का यह प्रथम अवसर था कि सर्वज्ञ, सर्वदर्शी उससे परिचय माँगा रहे हैं। उसने कहा—

परमात्मा! आपसे क्या परिचय दूँ? ससार के किसी भी प्राणी को मेरा आइन्दर भरा है। परिचय मैं आपसी से दे सकता हूँ, परन्तु परमात्मा आप तो सर्वज्ञ हो। सन ७

का कोई भी रहस्य आप से अप्रकट नहीं है। तीनों कालों की, तीनों लोकों की सर्व जीवों की सभी पर्यायों के ज्ञाता हो। आपसे मेरा क्या छिपा है ? मेरे सभी पापों को आप जानते हो। आपको मैं क्या अपना परिचय दूँ ? आज कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति यदि मुझे पूछ ले कि तू कौन है तो मेरे पास बहुत सारा परिचय है, मैं सेठ हूँ, फैक्ट्री का मालिक हूँ, डॉक्टर हूँ, वकील हूँ, बैरिस्टर हूँ, बहुत बड़ा व्यापारी हूँ। मेरे पास कई तरह के परिचय मौजूद हैं। परमात्मा ये तो आप माग रहे है, आप से क्या छिपा हुआ है मेरा ? इस जन्म की ही नहीं अपितु जन्म-जन्म की सारी करतूतें आप जानते हैं। दुनिया का कोई पाप नहीं जो मैंने छोड़ा हो। जगत् का कोई व्यक्ति नहीं जिसके साथ मैंने सम्बन्ध नहीं किया हो। और, यह सब कुछ आप जानते हैं। कितना पुण्य किया, कितना पाप किया, कितनी निर्जरा की, कितना धर्म किया, कितना कर्म किया, कितने सम्बन्ध स्थापित किये, कितने सम्बन्ध बाँधे, कितने बिगाड़े, कितने छोड़े, कितने तोड़े, कितने खेल खेले। परमात्मा आपसे क्या छिपा है ? बताइये ना। छोड़ दीजिए प्लीज, मेरा परिचय मत मागिये। आपसे कुछ छिपाना भी चाहता नहीं और परिचय दूँगा तो वह मेरे लिए लज्जाजनक होगा। मैं तो आपका परिचय पाकर मोक्ष पाना चाहता हूँ। यद्यपि मेरे लिए यह भी दुरूह हो रहा है।

परमात्मा ने कहा—वत्स ! तू मेरा परिचय दे सके या नहीं दे सके, तू मुझसे परिचित हो सके या नहीं हो सके, अब मुझे कोई चिन्ता नहीं। मेरे परिचय की तू चिन्ता मत कर, मैं तेरे साथ हूँ, सदा साथ रहूँगा, लेकिन मुझे चिन्ता है कि तू अपने आपको जानता है या नहीं ? तू अपना परिचय मुझे दे।

अब मानतुगाचार्य को भूल जाइये, और आप आगे बढ़िये, आप भक्त हो, आपको सम्पूर्ण अधिकार है। यह मत सोचिये कि सारी क्षमता मानतुगाचार्य में ही निहित है। मैं यह सोचती हूँ कि जितनी उनमें शक्ति थी, उतनी ही शक्ति हम में निहित है, लेकिन हम उस शक्ति को उजागर नहीं कर पाये हैं। “भक्तामर स्तोत्र” का आलम्बन लेकर अपनी अन्तश्चेतना को आज हम जागृत करेंगे। जब तक “कोऽहम्” की आग प्रकट नहीं होगी, तब तक परमात्मा से तात्त्विक सम्बन्ध संभव नहीं है। मैं कौन हूँ, मैं कहाँ से आया हूँ और मैं कैसा हूँ, यह सोचना अत्यन्त आवश्यक है।

अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी को हम अपना परिचय देगे। माध्यम आचार्यश्री का लेंगे। आचार्यश्री हम सब को साथ लेकर चलते हैं। अतः आचार्यश्री का परिचय हम सबका परिचय हो जायेगा। भक्त कहता है—प्रभु! बहुत ध्यान देकर सुनिये। यह है मेरा परिचय-

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चित पादपीठ ।

स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम्।

बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब-

मन्यः क इच्छति जन. सहसा ग्रहीतुम् ? ॥३॥

विवुधार्चितपादपीठ	-	विवुध का एक अर्थ देव है परन्तु विशेषार्थ है विशिष्ट बहुजन अर्चित पादपीठ याने पूजित चरणासन
बुद्ध्या विना अपि	-	बुद्धि विहीन होने पर भी,
विगतत्रय	-	लज्जा रहित
स्तोतु समुद्यतमति	-	स्तुति करने के लिए तत्पर हुई है बुद्धि जिसकी ऐसा
जलसंस्थितम्	-	जल में अच्छी तरह से पड़े हुए
इन्दुविम्बम्	-	चन्द्र के प्रतिविम्ब को
बालं विहाय	-	बालक को छोड़कर
अन्य क जन	-	दूसरा कौन मनुष्य
सहसा	-	अचानक
ग्रहीतुम्	-	पकड़ने के लिए
इच्छति	-	इच्छा करता है, चाहता है।

जो सामने आता है वह सम्बोधित होता है। भक्त आज पहली बार परमात्मा से मिल रहा है। “विवुधार्चितपादपीठ” जिनका पाद-पीठ विवुधो से अर्चित है, पूजित है। पादपीठ का मतलब होता है—चरणासन। जिस पर पैर रखकर परमात्मा सिंहासन पर आरूढ़ होते हैं उताको कहा जाता है पादपीठ। अर्चित का मतलब है पूजित। चरणासन पूजित इसलिये होता है कि नमन चरणों में ही किया जाता है। क्योंकि चरणों से ही शुभ Vibration तरंगित होते रहते हैं। इसीलिए परमात्मा के चरण सदैव पूजनीय होते हैं। चरण आसन पर रखे जाते हैं, अतः चरणासन भी पूजित होता है। सर्व जीवों से अर्चित ऐसा न कहकर विवुधो से अर्चित ऐसा क्यों कहा? सामान्यतः विवुध का अर्थ देव किया जाता है। परन्तु “भक्तामर स्तोत्र” के वास्तविक अर्थ में विवुध का अर्थ देव नहीं होता है। विवुध का अर्थ होता है विशिष्ट बुधजन।

अब मैं आपसे पूछती हूँ विवुध आप हैं या नहीं? आप अपने को क्या मानते हैं विवुध या अबुध? मान लीजिए, आप अपने को विवुध मानते हैं और आप समयसरण में पहुँच जाते हैं तो क्या आप परमात्मा के चरणों की पूजा नहीं करेंगे? उनको नमन नहीं करेंगे? अर्चना नहीं करेंगे? यदि करेंगे तो विवुध का अर्थ सिर्फ देव क्यों लेते हैं? क्या उनको ही अधिकार है परमात्मा के पादपीठ के अर्चन करने का? हमें कोई अधिकार नहीं है। हमें सम्पूर्ण अधिकार है—परमात्मा के पादपीठ के अर्चन, पूजन का और नमन का। उसका पूजा कैसा होता है? भावपूर्वक नमस्कार परमात्मा का पूजन है। इस प्रकार विवुध जनों से अर्चित है पादपीठ जिसका ऐसे कौन है? परमात्मा देवाधिदेव। “भक्तामर स्तोत्र” की ओक पंक्ति में ओक सम्बोधन मिलेगा। प्रत्येक सम्बोधन एक विशिष्ट तत्त्व का अनुप्राण बताते हैं। इन सम्बोधनों में कुछ न कुछ रहस्य है, कुछ न कुछ परमार्थ है।

हे विबुधार्चित पादपीठ परमात्मा! लीजिए, मैं परिचय प्रस्तुत करता हूँ। परिचय मैं दूँगा, लेकिन मैं निराश होकर आप के द्वार से लौटने वाला नहीं हूँ—

बुद्ध्या विनाऽपि विबुधार्चितपादपीठ।

स्तोतु समुद्यतमतिर्विगतत्रपोऽहम् ॥

१. बुद्ध्या विना—मेरा पहला परिचय यह है कि मैं बिना बुद्धि का हूँ क्योंकि मैं न तो आपको जानता हूँ और न मैं अपने आपको जानता हूँ परन्तु मैं इतना अवश्य जानता हूँ कि

“जो जाणादि अरहत दव्वत्त-गुणत्त-पज्जतेहि।

सो जाणादि अप्पाण, मोहो खलु जादि तस्स लय ॥

जो अरिहत परमात्मा को द्रव्य-गुण-पर्याय की दृष्टि से अर्थात् पूर्णरूप से जानता है, वही अपने आत्म-स्वरूप को (भी) जानता है (और) उसी के राग-द्वेषादि मोहनीय कर्मों का वास्तव में नाश होता है।

जीवन में कुछ ऐसे क्षण आते हैं जब बुद्धि बिगडती है और तब उन क्षणों में व्यक्ति बड़े से बड़ा पाप भी सहज कर डालता है।

स्मृति का जब नाश होता है तब बुद्धि बिगडती है इसीलिए गीता में कहा है—
“स्मृतेर्नाशात् बुद्धिनाशः” स्मृति याने स्मरण। स्मरण आत्मा का। मैं कौन हूँ उसका सच्चा भान, भ्रांति का टूटना, सम्यक् से जुड़ना है।

मैं डॉक्टर नहीं, वकील नहीं, सेठ नहीं, बेटा नहीं, बाप नहीं, माँ नहीं, पत्नी नहीं, पति नहीं, मैं तो सत्, चित्, आनन्द और सहज स्वरूप हूँ। मैं ज्ञानमय, दर्शनमय और चारित्रमय हूँ।

अफसोस, जगत् को जानने वाला स्वयं को ही नहीं जानता है। दुनियाभर की बातें करने वाले को घर में से निकाला गया है।

“जो जानता है अन्तर् को, उस अन्तर्यामी को भूल गये।

अफसोस गजब घर वाले ही, घर के स्वामी को भूल गये ॥

विगतत्रय —परमात्मा! मुझ में बुद्धि तो नहीं है परन्तु प्रभु! मुझे लज्जा-शर्म भी तो नहीं है। नालायक, बेशर्म या निर्लज्ज उनको कहा जाता है जो अपने पर किये जाने वाले उपकारों का विस्मरण कर दे। परमात्मा! पूर्वाग्रह, पैसा, परिवार, प्रज्ञा, प्रतिष्ठा और पदवीप्रबन्ध रूप इस प्रतिभासित जगत के साथ सबन्ध स्थापित कर मैंने आपके पवित्र, शाश्वत, ध्रुव और नित्य ऐसे सम्यक् आत्मधर्म का विस्मरण कर दिया।

काच के पात्र की तरह अत्यन्त नाजुक, प्रत्येक पल में टूटने की आशंका/भय वाले सासारिक प्रावधानों की प्रतिपालना में मैं अपने निजरूप को, आपके वीतरागधर्म को भूल गया और फिर भी आज लज्जा का त्यागकर तेरे सामने आया हूँ।

माता-पिता का इकलौता पुत्र कभी विरासत में मिली पूरी निधि को लेकर माता-पिता से अलग रहने लगे और फिर कभी कमभाग्य से यह सब कुछ खो बैठे तब माता-पिता के सामने आवे तो पिता उसे देखकर क्या कहेंगे—“नालायक! सब कुछ लेकर चला गया और आज गरज होने पर यहाँ पुन आ रहा है, तुझे शर्म नहीं आती है?”

इस समय माता ने पुत्र की दशा देखी और कहा—“बेटा! आओ। मैं तुम्हें माफ करती हूँ। तुझमें वुद्धि नहीं, शर्म नहीं, फिर भी बेटा हमारे प्रति रही तुम्हारी श्रद्धा ही मेरे लिए काफी है।

प्रभु! तू मा है। सत्य जननी है। विश्वमेया है। तेरी स्तुति जैसे महान् भगीरथ कार्य में ऐसी बालिशता कैसे काम आएगी? मैं जानता हूँ फिर भी मुझे इसमें तेरे प्रति स्तुति के लिए उद्यत मेरी मति ही आकर्षित करती है, इसीलिए कहता हूँ कि सारे पूर्वाग्रह, पूर्व-स्मरण और पूर्व-कथित प्रेमभावों से मुक्त होकर “स्तोतु समुद्यतमति” वाला हूँ।

ऐसा होता हूँ तब जगज्जीवन! हृदयेश्वर! तेरा विराट परम स्वरूप का एक छोटा सा प्रतिबिम्ब मेरे भक्तिजल से भरे हृदय में सम्यक् प्रकार से स्थित हो रहा है। मेरे एक मात्र शक्ति केन्द्र आप हो प्रभु! जैसे बच्चा माँ की गोद में बैठकर सहसा उसके अद्भुत वात्सल्य को प्राप्त करने का प्रयास करता है वैसे ही प्रभु! मैं भी निर्दोष भाव (बालभाव) से तेरे निर्दोष वीतराग स्वरूप के दर्शन-स्पर्शन और प्राप्ति का साहस करता हूँ।

“बाल” शब्द से मैं अपने में रही सहज सुलभ निर्दोष वृत्ति का आविर्भाव करता हूँ। जल में पड़ा चन्द्र बिम्ब तो सदा चंचल रहता है परन्तु प्रभु! आप तो संस्थित हैं। आपके प्रतिबिम्ब से उत्पन्न विद्युत चुबकीय Vibration शक्तिभावों से मुझ में प्रबल तरंगे प्रवाहित हो रही हैं, उत्पन्न हो रही हैं Influx हो रही हैं। इससे मेरी सारी मूलवृत्तियाँ Instincts यथार्थभाव में परिणत हो रही हैं। यह परिवर्तन मुझे अपने सहज स्वभाव की ओर प्रेरित कर रहा है। आपके प्रतिबिम्बित होने से मुझमें एक ऐसा स्पन्दन उठ रहा है जिसमें सारे मानसिक आवेग—तनाव (Tension) समाप्त हो रहे हैं। इससे सर्जित-पर्यावरण मेरे दशों प्राणशक्तियों में अवरुद्ध शक्तिप्रवाह को आदोलित कर रहा है। इन आदोलनों के अभियोग से अवतरित आपकी स्तुति से बने हुए विशुद्ध वायुमंडल में जित जन्मों के दैर्घ्य कर्मों की निर्जरा हो रही है।

इस आन्व आलनिर्मलता रूप अभिव्यक्ति के माध्यम से प्रभु! बालसहज निर्दोषभावों के बिना कौन आपके इस महान प्रतिबिम्ब को अपने हृदय में स्थापित कर सकता है। क्योंकि आप समस्त दोषों से रहित हो।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में कुल ५ तत्कारों का प्रयोग हुआ है जो क्रम से १ चक्षुः, २ श्रोत्र, ३ तन्मयता, ४ तल्लीनता और ५ तत्त्वमता—एक विशेष साधना २ शक्ति के स्वरूप है।

आचाराग सूत्र श्रु १.अध्य ५, उद्दे ६, सूत्र ५७८ मे परमात्मरूप प्रकट करने की पाँच “तकार” की महत्वपूर्ण साधना पद्धति दर्शायी है—

- १ तद्विट्ठीए — सर्वाग्रहो को त्याग कर तरण-तारणहार की दृष्टि मे एकरूप हो जाना।
- २ तम्मुत्तीए — परम स्वरूप मे तन्मय हो जाना।
- ३ तप्पुरक्कारे — परमात्मा को सदा आगे रखकर चलना अर्थात् उनके आदेश या आज्ञा के अनुसार जीना।
- ४ तस्सण्णी — परमात्मा के स्वरूप को अपने मन मे, अपने चित्त मे, अपने स्मरण मे निरतर रखना।
- ५ तन्निवेसणे — सदा सर्वदा उनके पास— उनके चरणो मे रहना।

युग-युग तक चिरतन रहे, “भक्तामर स्तोत्र” द्वारा स्तुति करने वाले प्रत्येक भक्त का परिचय बन जाय ऐसा परिचय देकर अब मानतुगाचार्य मिलन की प्रथम रूपरेखा द्वारा अंतिम की आराधना मे लीन हो रहे हैं। हम भी परमात्म-मिलन की ओर आगे बढ़ेंगे और चौथे श्लोक के द्वारा मिलन का मन्त्र पढ़ेंगे।



४. प्रभु-मिलन

समस्त आवरण और अन्तराया से परिमुक्त मोह और क्षोभ के जीतने वाले परमात्मा में अव्यादाध समाधि-स्वरूप का सधान हो रहा है।

विरह की वे भावात्मक घड़ियाँ परिचय में पल्लवित होकर मिलन के रचनात्मक प्रवाह में बदल रही हैं—प्रवाहित हो रही हैं। राजा को आचार्यश्री का मिलन हुआ है और आचार्यश्री का परमात्मा का मिलन हो रहा है। मिलन-मिलन में भी अन्तर है। एक मिलन विवाद उठा रहा था तो एक मिलन जनम-जनम का विवाद मिटा रहा था। एक उठ-उठ कर रूठ रहा था, एक मिट-मिट कर अमिट बन रहा था।

वेड़ियाँ टूट रही थीं, सिर्फ लोहे की ही नहीं, परमात्म-भाव में बाधक कर्मों की भी। केवल ५६ अक्षरों की अक्षर माला में भक्त अपना सम्पूर्ण परिचय परमात्मा के सामने पेश करता है। स्थां कोई भी होगा, काल कोई भी होगा, व्यक्ति कोई भी होगा। लेकिन भक्त हृदय का व्यक्तित्व “भक्तामर स्तोत्र” के तृतीय श्लोक से अतिरिक्त नहीं हो सकता। ऐसी एक चिरन्तन परिचय माला को परमात्मा के चरणों में प्रस्तुत करते हुए मुनिश्री को परिस्थिति का बन्धन नहीं रोक पाया।

इधर आप जानते हैं आचार्यश्री को वेड़ियों के बधन में डालकर पुलकित हो रहे राजा को जब इस बात का पता चला कि आचार्यश्री के अन्तःकरण से संस्कृत में एक स्तोत्र प्रकट हो रहा है और जैसे-जैसे एक-एक श्लोक का उच्चारण होता है वैसे-वैसे आचार्यश्री के अंगों पर लटकती हुई किलेबन्द वेड़ियाँ टूटती चली जा रही हैं। उसने सोचा कि जिन शब्दों के माध्यम से ये वेड़ियाँ टूटती चली जा रही हैं, क्या नहीं इन श्लोकों को आलेखित किया जाय ताकि मैं भी भविष्य में इनका उपयोग कर सकूँ। उन्होंने नहिया (लेखक) को बुलाया। उसने ताड़पत्र पर लिखना शुरू किया।

वक्तु गुणान् गुणसमुद्र ! शशाङ्ककान्तान्
कस्ते क्षमः सुरगुरुप्रतिमोऽपि बुद्ध्या।
कल्पान्त-काल पवनोद्धत नक्र-चक्र,
को वा तरीतुमलमम्बुनिधिं भुजाभ्याम् ॥४॥

गुणसमुद्र !	— (हे गुणो के समुद्र !) हे गुणसागर
बुद्ध्या	— बुद्धि के द्वारा
सुरगुरु प्रतिम	— बृहस्पति के समान
अपि	— भी
क	— कौन मनुष्य ?
ते	— आपके
शशाङ्ककान्तान्	— चन्द्रमा के समान उज्ज्वल-ऐसे,
गुणान्	— गुणो को
वक्तु	— कहने के लिए-कहने में
क्षम	— समर्थ है ?
कल्पान्तकाल पवनोद्धतनक्रचक्रम्	— प्रलयकाल की वायु के द्वारा प्रचण्ड है मगरमच्छो का समूह जिसमें ऐसे
अम्बुनिधि	— समुद्र को
भुजाभ्याम्	— भुजाओं के द्वारा
तरीतुम्	— तैरने के लिए
क अलम्	— कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं।

आचार्यश्री को दो विरुद्ध समुद्र के दर्शन हो रहे हैं। एक है गुणसमुद्र परमात्मा और दूसरा है विकल्पो से भरा समुद्र। एक है क्षीर समुद्र, दूसरा है लवण समुद्र। क्षीर समुद्र दीखता जरूर है पर वह दूर नजर आ रहा है, अतः क्षीर-अमृत का पान नहीं कर रहा है। वह क्षीर समुद्र का पान करना चाहता है परन्तु लवण समुद्र में जहाँ वह खड़ा है, बहुत लम्बा चोड़ा है, उसे साधक को स्वभुजा से ही पार करना है। कितना विकट है यह कार्य ? कितना भयानक है, कितना विशाल है यह समुद्र ?

मुधर्नास्वामी ने जवूस्वामी को परमात्मा की पहचान कराते हुए समुद्र की उपमा दी

४-

‘मे पन्नया अक्खणसागरे वा महोदही वा वि अणत्तपारे’ —सूय अ ६, गा ८

वे (परमात्मा महावीर) प्रज्ञा के अक्षय सागर हैं, महाउदधि हैं—समुद्र के समुद्र इसमें समा जात हैं, वे अनतपार हैं, अपरपार हैं, फिर भी अनत इसे पा जाते हैं। ऐसे तो अनत मिलकर भी इन एक को नहीं पा सकते हैं फिर भी अनतानत इन्हें पाकर स्वयं अनत हो गये, अपरपार हो गये।

जम्बू! यदि प्रज्ञा से तुम महावीर को समझने का प्रयास करोगे तो महावीर को नहीं समझ पाओगे। चाहे जम्बू स्वामी हो, चाहे सुधर्मा स्वामी हो, चाहे मानतुगाचार्य हो, चाहे आनन्दघन हो, चाहे मैं हूँ, चाहे आप हो, लेकिन सबके सामने यही परिस्थिति आयेगी कि परमात्मा के गुण अनत हैं, नहीं गाये जा सकते हैं।

योगिराज अनन्दघन कहते हैं—

“गाय न जाणू, रिझाय न जाणू, ना जाणू सुरभेदा”

मैं न तो गा सकता हूँ, न बजा सकता हूँ, न खुद रीझ सकता हूँ, न तुझे रिझा सकता हूँ। ऐसी मेरी परिस्थिति में हे गुणसमुद्र। “ते शशाककान्तान् गुणान् बुद्ध्या, वक्तुं सुरगुरु—प्रतिमोऽपि क क्षम। प्रश्न किया है यहाँ पर कैसे समर्थ हो सकते हैं? कौन किसलिये? ते शशाककान्तान् गुणान् “ते” का मतलब तब, “तब” का मतलब तेरे। गुणा को उन्होंने यहाँ “शशाककान्तान्” शब्द से उपमित कर दिया है। तेरे गुण चन्द्रमा जैसा चिल्लते हैं।

मैं सोचती हूँ यहाँ “बुद्ध्या” व “शशाककान्तान्” शब्द के लिए हम तीसरे श्लोक और चौथे श्लोक को मिलाते चले जायें। दोनों में “बुद्ध्या” शब्द का प्रयोग है। तीसरा श्लोक “बुद्ध्या विनापि” शब्द से शुरू होता है और यहाँ दूसरी पंक्ति में “प्रतिमोऽपि बुद्ध्या” शब्द है। बुद्धि से किस प्रकार गुण गान करने में समर्थ हो सकते हैं क्योंकि बुद्धि तो है नहीं। अतः “बुद्ध्या” शब्द को पहले समझने का प्रयास करें। मैं तो बिना बुद्धि का हूँ लेकिन वस्तु से तेरे भक्त बुद्धिशाली हैं। हे भगवन्! सृष्टि में अनेक तेरी भक्ति करने के अधिकारी हैं। जिसके हृदय में भक्ति है, वे तेरे भक्त हैं। जो भी भक्त है तेरी भक्ति करने के सम्पूर्ण अधिकारी हैं। मैं भले बिना बुद्धि का हूँ लेकिन क्या कोई बुद्धिमान तेरी भक्ति कर सकता है? तेरे गुणों को गा सकता है? तो कहते हैं बुद्धि से, बुद्धि-सम्पन्न यहाँ कौन माने जात है? सुरगुरु याने देवों के गुरु। हालाँकि देवों के गुरु का अर्थ बृहस्पति किया जाता है पर जानना मैं देवों के गुरु मैं कहीं बृहस्पति की गिनती नहीं है। गुरु का अर्थ स्वामी होता है और देवों का स्वामी का मतलब शक्रेन्द्र, सौधर्मेन्द्र। बारह देवलोक के इन्द्र की यहाँ गिनती तो सच ही है, क्योंकि जब-जब परमात्मा को कोई भी ज्ञान होता है, दीक्षा होती है, जन्म होता है, निर्वास होता है, कोई भी कल्याणक होते हैं उस समय शक्रेन्द्रादि आते हैं और ब्रह्मा जी स्तुति करने हैं। तब मानतुगाचार्य के सामने प्रश्न आया मैं मनुष्य होकर तुम भी कर सज्जा तो क्या इन्द्रादि देव कर सकते हैं? तो कहा “प्रतिमोऽपि बुद्ध्या”

“क क्षम।” उनका जहाँ बुद्धि चले जाई भी। वक्तुं” याने कहने के लिये “क क्षम।”

अर्थात् समर्थ नहीं होते हैं। “गुणान्” कैसे गुणान्, तो कहते हैं “शशाककान्तान् गुणान्” “शशाक” शब्द चन्द्र का पर्यायवाची है। तीसरे श्लोक में इन्दु बिम्बम् चन्द्र परमात्मा का प्रतीक था। चौथे श्लोक में उपमान स्वयं उपमित हो रहा है।

चन्द्र को इतना महत्व मानतुगाचार्य ने क्यों दिया है? चन्द्र जैसे निर्मल। यो देखा जाय तो गुण और चन्द्रमा दोनों मिलते ही नहीं। चन्द्रमा इतना निर्मल नहीं है जितने परमात्मा के गुण निर्मल हैं। फिर भी उन्होंने चन्द्र शब्द से गुणों को उपमित कर लिया है। इसका क्या कारण था? आप जानते हैं कि चन्द्र का मन के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध है। किसी भी ज्योतिषी के पास अपना टेवा लेकर जावो और वह यह कहता है कि आपका चन्द्र बहुत प्रबल है तो आप समझेंगे कि आपका मन शक्तिशाली है और यह कहे कि आपका चन्द्र निर्बल है तो इसका मतलब है कि इस दुनिया की घटनाएँ कुछ भी होंगी लेकिन आप अपने मन से पराजित होते जायेंगे।

इसके अतिरिक्त दूसरी जगह “चन्द्र” शब्द का प्रयोग देखेंगे—सिद्धों के गुणों के लिए, सिद्ध शिला के लिए। सिद्धों के स्वरूप का वर्णन करते समय “चंदेसु निम्मलयरा”, चन्द्र से भी निर्मल। इस प्रकार “चन्द्र” शब्द का हमारे साथ बहुत निकट का सम्बन्ध है। योगशास्त्र के अन्दर विशुद्धि चक्र में चन्द्र का ध्यान करने का विधान है। कभी तेज गरमी या तीव्र धूप में बैठकर विशुद्धि चक्र का ध्यान करोगे तो आप जैसे Air-Condition में बैठे हो वैसी ही शीतलता महसूस करोगे।

ऐसी एक योग विधि है जिसका कोई भी प्रयोग कर सकता है। और इसकी प्रतीति भी कर सकता है कि जो प्रतिबिम्बित होता है वही मैं हूँ और कोई नहीं।

हे गुण समुद्र! मैं तेरी परिचर्या इसलिये कर रहा हूँ कि तू जैसा है वैसा का वैसा मैं भी गुणों का स्वामी हूँ। मुझ में अनन्त ज्ञान है, अनन्त दर्शन है, अनन्त वीर्य है लेकिन जैसे बादल से सूर्य ढका रहता है वैसे मेरे समस्त गुण आवृत हैं। मैं तेरे अधीन इसलिये हो रहा हूँ कि तू सर्वथा कर्मों से मुक्त है। तेरा स्मरण करके मुझे अपने कर्म तोड़ने हैं, इसलिए हे परमात्मा! तेरे गुणों का स्मरण कर मैं अपने गुणों को आविर्भूत करना चाहता हूँ।

एक बात निश्चित है कि परमात्मा के अनन्त गुणों में से एक गुण की भी याचना कर आप गुण प्राप्त नहीं कर पायेंगे, लेकिन उनके गुणों का स्मरण करके हम में जो गुण आवृत हैं उनको अनावृत करेंगे, उनको चीरेंगे, उनको फाड़ेंगे, उनको खोलेंगे और भीतर से हम अपने आप को परमात्म स्वरूप में पायेंगे। इन दो पक्तियों में भक्त मानतुगाचार्य हमें इतना ऊपर उठा लेते हैं कि हमें लगता है, हम भी अनन्त गुण के स्वामी हैं, हम भी १. १. १ से कुछ कम नहीं हैं। प्रश्न इतना ही है कि उनके गुण प्रकट हो चुके हैं, हमारे गुण अप्रकट हैं। अब अगली पक्तियों में इस आवरण के कारणों को समझाते हैं—

कल्पान्तकालपवनोद्धतनक्रचक्र।

को वा तरीतुमलमम्बुनिधि भुजाभ्याम्॥

देखिए, जैसे स्वयं के गुणों को प्रकट करने का प्रयास किया जाता है, एक बहुत बड़ा व्यवधान आ जाता है “कल्पान्त काल पवनोद्धत नक्र चक्र।” कल्प का अन्त याने प्रलयकाल। प्रलय काल का मतलब आरे का विसर्जन काल। यह सामान्य अर्थ है लेकिन इसका विशिष्ट अर्थ भी है।

कौनसा कल्प और कौनसा अन्तकाल है, जिस अन्त काल में पवन उद्धत होता है। नक्र चक्र का मतलब होता है मगरमच्छ, मत्स्य वगैरह जो कि उस समय ऊपर आयेगे। ऐसे विकट समय में यदि समुद्र को भुजाओं के द्वारा कोई तिरना चाहे तो क्या तिरा जा सकता है? प्रलयकाल की तो बात क्या करें, आज भी भुजाओं के बल पर ऐसे समुद्र को पार नहीं कर सकते हैं।

अब प्रश्न है आचार्यश्री ने यहाँ पर “कल्पात” शब्द का प्रयोग क्यों किया? कौन से कल्पात काल की उनके दिल में चर्चा थी? कौन सा पवन हमारे साधना काल में उद्धत होता है? और कौन से मगरमच्छ आकर हमारी साधना का विध्वंस कर देते हैं? ऐसी जो चीजें हैं उनको यदि आज नाथ लिया जाय तभी हम आगे बढ़ पायेंगे अन्यथा हमारी यात्रा यहीं पर अवरुद्ध हो जायेगी, रुक जायेगी।

एसा मत समझना कि जिनेश्वर की आराधना या उनका मार्ग हमने कभी नहीं पाया। इस अनन्त जन्म की यात्रा में कई बार ऐसे काल बीत गये, उनकी सेवा भक्ति पूजा करने का कई बार मौका मिला होगा, लेकिन हमारी यह कमजोरी रही कि हमारे कल्प का जब-जब अन्त काल आता गया, उस उद्धत पवन के सामने, उन उद्धत मगरमच्छों के सामने हम स्वयं अपनी भुजाओं के बल पर तेरने के लिये कूद पड़े थे और मगरमच्छों के मुँह में ॐ स्वारा हो गये थे। मुनिश्री को आज गलती महसूस हो रही है और उन्होंने कहा—परमात्मा! कई बार तेरी आराधना करके भी मैं गिर पड़ा हूँ। तेरा जिसने एक बार भी ध्यानपूर्वक मान कर लिया, उसका पुनः ससार परिभ्रमण नहीं हो सकता, इस बात की सम्पूर्ण प्रतीति होने के बावजूद भी इस आत्मा ने कई बार परिभ्रमण किया है। जान सी लती हो रही है? कौन सी कमजोरी है? जिस कमजोरी का इस जन्म में “भक्तानर मीन” के माध्यम से हमें खोल देनी है। आचार्यश्री के माध्यम से हमें इन समस्याओं का मुलभूत है। कल्प शब्द का प्रयोग हमारे यहाँ कई बार आता है।

एक महत्वपूर्ण कल्प शब्द से हम सम्बन्धित हैं जो हम में रात-दिन उठता रहता है। जिसे हम कल्पना भी कहते हैं। इसी से सकल्प-विकल्प शब्द निकले हैं। इन विकल्पो के अन्तकाल की चर्चा आचार्यश्री का ध्येय रहा है। कल्प के अन्त पर जो स्थिति है वह निर्विकल्प स्थिति है।

ऐसी निर्विकल्प स्थिति के लिए जब साधक निकलता है तब उसे कौन अवरुद्ध करता है? तो कहते हैं पवन उद्धत होता है और बड़े-बड़े भयकर मगरमच्छ उठते हैं। पवन याने मन। जब मन उद्धत होगा तो समस्त इन्द्रियाँ और प्राण उद्धत होंगे और उनके उद्धत होने से अध्यवसाय दूषित होते हैं। और, जब अध्यवसाय दूषित होते हैं तो ससार के सारे विषम आवेग रूप मगरमच्छ उसको आकर घेर लेते हैं। अनेकानेक विकृतियों से मन उद्वेलित हो जाता है। इस निर्विकल्प (कल्पात) स्थिति तक पहुँचने के लिए साधक को अनेक प्रयास करने पड़ते हैं। परमात्मा का स्मरण या शरण-ग्रहण इस साधना में परम सहयोगी रहकर सफल करता है। “भक्तामर स्तोत्र” का यह श्लोक इसकी अभिव्यक्ति है।

प्रभु । ऐसे इस महासमुद्र को मुझे भुजाओ से पार करना है। यह कैसे संभव है? यहाँ “क अलम्” शब्द से प्रश्न को विराम देकर यह आशा सूचित कर रहे हैं कि “परमात्मा। मैं अवश्य इसे पार करूँगा क्योंकि मुझे सामने तुझ स्वरूप गुणसमुद्र नजर आ रहा है। तेरे इस झलकते प्रतिबिम्ब के सहारे मैं इसे अवश्य पार कर लूँगा। तेरे गुणों का स्मरण कर, शरण-ग्रहण कर तेरे चरणों में नमन कर तुझ-मुझ मिलन के मन्त्र को अन्तर्मान में प्रस्थापित करता हुआ जन्म-जन्म के बन्धनों से मुक्ति पा लूँगा।”



५. बन्धन

ससार में घटनाओं का, विषमताओं का आना अत्यन्त सहज एवं स्वाभाविक है। व्यक्ति के जीवन में कुछ ऐसी विशिष्ट परिस्थितियाँ आती हैं जिन्हें व्यक्ति चाहते हुए भी नहीं रोक पाता है लेकिन घटनाओं में भी घटनातीत होकर घटनाओं से किसी प्रकार से विचलित नहीं होना, साधना है। ऐसी उच्चकोटि की महान साधना का जीवन में प्रकट हो जाना, यही तो साधना का रहस्य है। जिस रहस्य को आचार्यश्री ने स्तोत्र द्वारा ससार के सामने प्रस्तुत कर दिया है।

मात्र बाह्य घटनाओं से ही परिचित नहीं रहते हुए उनके भीतरी अन्तस्थलों की ओर पहुँचेंगे, जहाँ घटनाओं में रहते हुए आचार्यश्री घटनातीत हो गये। देह में रहते हुए देहातीत हो गये। पार्थिव में रहते हुए अपार्थिव के दर्शन कर लिये। आज “भक्तामर स्तोत्र” को सिर्फ रहस्य का प्रतीक मानकर चमत्कारों से भरपूर मान लिया है। यद्यपि इस चमत्कार है, इस बात में कोई शका नहीं है। व्यक्ति जो चाहता है वे सारे मनोवाञ्छित इस ‘स्तोत्र’ से पूर्ण होते हैं। ससार में और कोई नहीं दे सके, ऐसी अनुपम उपलब्धि भी “भक्तामर स्तोत्र” के अन्तर्गत निहित है। जो चमत्कारों का भी चमत्कार है और वह यही है कि देह में रहते हुए भी देहातीत स्थिति का अनुभव करना। बधन में रहते हुए भी निर्वन्ध की स्थिति का अनुभव करना। वर्तमान स्थिति में देख रहे हैं—कर्म क्षेत्र में व्यक्ति का अपना सामञ्जस्य बहुत कष्ट भरा होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में जीवन के वे रहस्य जो हमें आदिकाल से नहीं मिल पा रहे हैं, उन्हें भक्ति के माध्यम से खोलने का काम आज भक्तामर स्तोत्र कर रहा है।

जो परमात्मा के असीम प्रेम के बधन में बध गया, उसे वेड़ियों के बधन कैसे बाँध सकेंगे ? पिला यदि बधन में बाँधे नहीं तो मिलन कैसे सफल हो ? परमात्मा के प्रति होने वाली भक्ति का बधन गुक्ति का महामंत्र है—सिद्धि का परम सूत्र है, योगी से जुड़ाकर जगत् की ओर तो जाने वाला यत्र ह, चौदह राजुलोक के सर्व शुभभावों की स्वीकृति का साधक है।

निर्वन्ध के प्रति होने वाले इस साधना-बन्धन ने साधक में पहले “को अह” में कौन है—जिज्ञासा उत्पन्न की। जिज्ञासा अनुसंधान का आधार बनी। अनुसंधान आत्मा का जलन उत्पन्न करता है—“सो अहं” रूप साकार हो गया और आचार्यश्री के मुख से निकला—

सोऽहं तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश।

कर्तुं त्वं विगतशक्तिरपि प्रवृत्त ।

प्रीत्याऽऽत्मवीर्यमविचार्य मृगी मृगेन्द्रम्,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ॥५॥

मुनीश ।	= हे मुनीश्वर ! (साधुओ के स्वामी)
स	= वह
अहम्	= मैं
तथापि	= फिर भी
भक्तिवशान्	= भक्ति के कारण
विगतशक्ति	= शक्ति रहित
अपि	= (होते हुए) भी
तव स्तव कर्तुम्	= तुम्हारी स्तुति करने के लिए
प्रवृत्त	= तत्पर हूँ,
मृगी	= हरिणी
प्रीत्या	= प्रीति से
आत्मवीर्यम्	= अपने सामर्थ्य को
अविचार्य	= बिना विचारे
निजशिशो	= अपने बच्चे की
परिपालनार्थम्	= रक्षा करने के लिए
किम्	= क्या ?
मृगेन्द्र न अभ्येति	= सिंह का सामना नहीं करती ? (अर्थात् अवश्य करती है)

परमार्थ—हे मुनीश! ईश याने स्वामी! हे मुनियो के स्वामी! नाथ! केवल मेरे (मानतुग के) ही नहीं परन्तु सभी मुनियो के स्वामी ! जिन्होंने भी बाह्य-आभ्यतर दोनों ग्रन्थियो को और सासारिकता को छोड़ दिया, उन सर्व के स्वामी। एक मानतुग जैसे हजारो हजार मानतुग तेरे शासन पर न्यौछावर हो गये। हजारो साधु-साध्वियो का तू ही एक नाथ! तेरे बिना सभी अनाथ! हाय, जिनके पास तू नहीं, तेरी आज्ञा नहीं, तेरी शीतल छाया नहीं वह सत होकर भी भिखारी है। मेरे स्वामी! शासन का कोई सत तेरी शीतल छाया से दूर न रहे।

सो अहम्=वह मैं। कितना गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है इस “सो अहम्” मे। तीसरे श्लोक मे स्वयं का परिचय देने वाला कह रहा है— कि बिना बुद्धि का, बिना शर्म का, बिना विचार का और बिना शक्ति का “वह मैं”।

“आचाराग सूत्र” मे निहित “सो अहम्” शब्द भी व्यापक अर्थ मे प्रज्ञापित है—

“सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ जो आगओ अणुसचरइ सोऽहम्।”

—आचाराग श्रुतस्कंध १, अध्ययन १, उद्देशक १

१ जो सब दिशाओं और सब अनुदिशाओ से आकर अनुसचरण करता है, वह मैं हूँ।

२ दूसरी व्याख्या होती है— इस परिभ्रमण या बुद्धिहीन अवस्था को जो मिटाता है, वह भी मैं हूँ।

जो परिभ्रमण करता है, जन्म-मृत्यु, सयोग-वियोग, सुख-दुःख की अनुभूति करता है, वह मैं हूँ। प्रगतिमय भी मैं हूँ, पतनमय भी मैं हूँ, जो बधनो मे बधा है वह भी मैं हूँ, जो बधना से सर्वथा मुक्त हो सकता है वह भी मैं हूँ। निश्चय दृष्टि से अभी भी अनत ज्ञान-दर्शन स्वरूप मुक्तात्मा भी मैं हूँ।

तुरन्त का जन्मा एक सिंह शिशु एक बार एक चरवाहे के हाथ चढ़ा। उसने उसे भड़कूरिया के समूह में छोड़ दिया। वह सिंह का बच्चा बकरियों के साथ बे-बे करना सीख गया। घास खाने लगा, छोटे-मोटे कुदके मारने लगा, उसे कभी इस बात का पता नहीं चला कि वह इस रीत-भात के लिए योग्य नहीं है।

एक दिन इस समूह के सामने दहाड़ता हुआ सिंह आया। सब बकरियाँ भाग गईं, लेकिन वह सिंह शिशु उस वनराज के सामने अनिमेष दृष्टि से देखता रहा। देखते ही उसका मन में कुछ अगम्य प्रश्न उठने लगे— मैं कौन हूँ? मैं बकरी नहीं, मैं बे-बे करने वाला नहीं, घास खाने वाला नहीं, कुदके मारने वाला नहीं।

ना ना ना मैं—मैं उसमें से कुछ नहीं हूँ। तो मैं कौन हूँ?
मैं वही हूँ। वह सिंह ही मैं हूँ। वही मेरा स्वरूप है।

जोर से दहाड़ता हुआ बड़ी छलांग मार कर वह सिंह के पास जाकर खड़ा हो गया और कहने लगा “तू ही मैं हूँ और अंत में ही मैं हूँ। यह धुन उसे लग गई।

सच्चिदानंद स्वरूप आत्मा। अनंतज्ञानी। अनंतदर्शी। अनंत चारित्र्यी। भक्तसत्पुत्रिमात्। सचमुच सिंह। बकरियों के समूह में फँस गया। शुद्ध याचनाओं में दीन हो बैठा करता है, विषय-कषाय की घास खाता है, जीवन के क्षणिक सुखों के लिए कुदके मारता है।

परमात्मा का झलकता हुआ प्रतिबिम्ब उसे यह समझाता है कि इस प्रवृत्ति के तू योग्य नहीं है।

तथापि तव भक्तिवशात्” तथापि याने फिर भी। जैसा हूँ वैसा फिर भी “तव” तेरा हूँ।

स्तोत्र” में प्रयुक्त विविध शब्दों के संयोग से “तव” शब्द के यहाँ तीन महत्वपूर्ण अर्थ निरूपित हैं।

१ सोऽहम् तथापि तव-बुद्धिहीन, शर्महीन, विचारहीन और शक्तिहीन वैसा मैं, फिर भी तेरा हूँ। समर्पण के चरम शिखर पर पहुँचा हुआ साधक परमात्मा से अपनी कपट रहित अवस्था में स्व-आलोचना करता है। रागद्वेष से सर्वथा रहित सपूर्ण वीतरागदशा में लीन परमात्मा को ऐसा कहना “मैं तेरा ही हूँ” (अन्य किसी का अव हो नहीं सकता) विचित्र तो लगता है परन्तु भक्ति की परमोच्चदशा में यह क्षम्य है।

२ तव भक्तिवशात्-तेरी भक्ति के अधीन हो, तेरे विशिष्ट परमार्थ-भाव से प्रभावित होकर मैं भक्त तेरा, और मुझसे की जाने वाली भक्ति भी तेरी। यहाँ समर्पण की सर्वोच्चता का अन्तिम अभियान निखरता है।

३ तव स्तव कर्तुं प्रवृत्त -तेरी स्तुति करने के लिए तत्पर हूँ। सन्नद्ध हूँ। वृत्त याने अवस्था, दशा, प्रकृति। हे परमात्मा! मैं आज प्रकर्ष भाव से, प्रमोदभाव से और प्रसन्न भाव से अपनी सासारिक अवस्था का विसर्जन कर तुझ स्वरूप में लीन होकर निजस्वरूप को प्रकट कर रहा हूँ। तेरी स्तुति करने के लिए चित्त प्रसन्न अवस्था वाला मैं तुझे पाकर धन्य हो गया।

मृगो प्रोत्था आत्मवीर्यं अविचार्य निजशिशो परिपालनार्थं मृगेन्द्र किं न अभ्येति।

सामान्य रूप से इसका अर्थ है-हरिणी प्राति से अपने वत्स की रक्षा करने के लिए अपना सामर्थ्य को विचारे बिना क्या मिह का सामना नहीं करती अर्थात् अवश्य करती है।

उदाहरण ऐसा है-एक वन के भीतर एक हरिणी अपने बच्चों को लेकर लाड़-प्यार के साथ उसे पाल रही थी। अचानक एक वनराज मिह आता है, हरिणी के बच्चों को पकड़ने का प्रयास करता है। वह हरिणी से उसके बच्चों की छीना-झपटी करता है। हरिणी अपने बच्चों की रक्षा के लिए मिह का मुकाबला करती है। आचार्यश्री किसको सुना रहे थे? मुझे नहीं, आपको नहीं, गजा को नहीं, विद्वान को नहीं, नगर जनो को नहीं, वे तो स्तुति कर रहे थे एक मात्र परमात्मा के प्रति। उन्होंने परमात्मा से प्रश्न पूछा-परमात्मन् ! क्या कारण जिस समय उस हरिणी के बच्चों को झपटने के लिये प्रयास करता है, उस समय तुम उस वनराज का मुकाबला नहीं करोगी?

इस प्रकार आचार्यश्री ने इन पक्तियों में आत्मा के परमात्म स्वरूप को समझाने के लिए एक सुन्दर रूपक योजना प्रस्तुत की है जैसे-

मृगो	-	हरिणी-माता का प्रतीक परमात्मा
शिशो	-	बच्चा-आत्मा
मृगेन्द्र	-	मिह-विषय-कषाय

॥ परमात्मा ! अनादिकाल से विषय-कषाय के सिंह मुझ पर (आत्मा पर) आक्रमण कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में हे विश्वजननी ! तू क्या चुपचाप देखती रहेगी और तेरा भक्त-आत्मा क्या लाचार, विवश और मजबूर होकर इन विषय-कषायों का शिकार बनता रहेगा ? परिभ्रमण करता रहेगा ? अर्थात् ऐसा नहीं हो सकता है। मा ! तू तेरे शिशु को शीघ्र ही इस शिकारी से बचाकर परिभ्रमण से सर्वथा मुक्त कर। तुझ स्वरूप में स्थिर कर।

इस श्लोक में प्रीति, शक्ति और भक्ति इन तीन शब्दों का अर्थ बड़ा महत्व रखता है। अनन्त शक्तिमान् भक्त बिना परमात्मा के स्वयं को शक्तिहीन मानता है। शक्ति का प्रयोग आत्मा के लिए प्रयुक्त है। भक्ति का प्रयोग परमात्मा के लिए प्रयुक्त है अतः “तव भक्तिवशात्” तेरी भक्ति के प्रभाव से ऐसा शब्द प्रयुक्त है। और प्रीति शब्द में माता-पुत्र के स्नेह-सम्बन्ध द्वारा दोनों के लिए इसका प्रयोग किया है। यहाँ भी इस शब्द द्वारा आत्मा-परमात्मा के साधना-सम्बन्ध को दर्शाया गया है। वस्तुतः आत्मा की मौलिक नैर्घर्षिक कर्म रहित अवस्था ही परमात्म स्वरूप है। आत्मा जब अपने इस निर्विकार निर्विकल्प स्वरूप का ध्यान कर वीर्योल्लास प्रकट करती है, तब ससार के विषय-कषाय में वह मुकादला कर सकती है। बंधनों से मुक्त होती है। कर्मों से रहित होती है।

भीतर यदि बारूद भरा होगा, बाहर की हलकी सी चिनगारी भी विस्फोट कर सकती है। भीतर में विषय-कषाय जिसके नष्ट हो जाते हैं, उसे बाहर का विकारी पर्यावरण कैसे विकृत कर सकता है ? इस प्रकार हे परमात्मा ! तेरे प्रति रहा मेरा अनुराग ही मेरी मुक्ति का अभियान है।



६. मुक्ति-बोध

बन्धन दो प्रकार के होते हैं—द्रव्य-बधन और भाव-बधन। बधन आखिर बधन ही है। वधन से मुक्ति अनिवार्य हो, ऐसा हम सब चाहते हैं। पूर्व में हमने देखा—भक्त भगवान को, आत्मा परमात्मा को अपनी भक्ति के बधन में बाधने का प्रयास कर रहा है। द्रव्यरूप से आचार्यश्री ४८ बेड़ियों के बधन में बंधे हुए थे। जिसमें से ५ बेड़ियों के बधन टूट चुके हैं, शेष बेड़ियों के बधन उनके अगोपाग पर लटक रहे हैं, लेकिन अभी तक आचार्यश्री ने कभी भी परमात्मा को इस बात के लिए उपालभ नहीं दिया कि—प्रभु! तेरे भक्त को ये बेड़ी के बधन क्यों? अभी तक नहीं और शायद कभी भी नहीं। सभी बेड़ी के बधन टूट भी जायेंगे लेकिन आचार्यश्री कभी भी परमात्मा से अनुनय-विनय नहीं करेंगे कि मुझे बेड़ी के बधन से मुक्त कर दो। भक्ति की विवशता जब चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है, तब बाह्य बधन अपने आप टूटते चले जाते हैं।

यह सोचकर हमें आश्चर्य हो सकता है कि सिद्ध भूमि में विराजमान परमात्मा का क्या इतना प्रभाव हो सकता है कि उनके स्मरण से बेड़ी के बधन टूट जायें? जो सदा स्वात्म में स्थिर है, स्व-आनंद में लीन है, उसका मिलन क्या, मिलन का बधन क्या? आज तक जीव ने कई सम्बन्ध बाधे, कभी तो किसी सम्बन्ध ने उसे ऐसी प्रसन्नता प्रदान नहीं की? आत्मा-परमात्मा के बीच में ऐसा कौन सा नाता है? कैसा यह सम्बन्ध है? कौनसा ऐसा प्रबल निमित्त है जो भक्त के लिए प्रेरणादायी बन जाय और मिलन से बधन तथा वधन से मुक्ति दिला दे।

आचार्यश्री ने परमात्मा से कहा कि इन बेड़ियों से मुझे कोई परेशानी नहीं है। ऐसे वधन तो कई बार आये और आते रहे, जुड़ते रहे, टूटते रहे हैं। मुझे चिन्ता है ससार के वधन की ओर अब मुझे इससे मुक्ति का मार्ग भी मिल गया है और वह मार्ग है तुम्हारे वधनों में बंध जाने का। जब तक भक्ति का वधन भक्त के ऊपर नहीं आयेगा, तब तक वह द्रव्य-वधनों से मुक्त नहीं हो पाता है। भक्ति का मार्ग अत्यन्त Delicate है लेकिन यह Short Cut भी है और इसी कारण सर्वश्रेष्ठ है, जिसे अपनाकर आचार्यश्री कदम-ब-कदम आगे बढ़ रहे हैं। धीरे-धीरे परमात्मा के वधन में अधिक बंधते हुए वे इस बात की निश्चय स्थिति पर पहुँच रहे हैं जहाँ वधन भी निर्वन्ध की परिणति बन जाते हैं। निर्वन्ध के वधन में यह एक बहुत बड़ी ताकत है, वह कभी भी हमें वधनों से मुक्त कर सकता है। आचार्यश्री मुक्ति पथ पर आगे बढ़ने के लिये, सारे वधनों को तोड़ने के लिये

एक विशिष्ट वचन प्रणाली में मयुक्त होते हुए परमात्मा के चरणा में भक्ति से विवश हो चुके हैं। नमो के भावों में मस्तक झुका हुआ है। अन्तःकरण में परमात्मा का आवाहन और तीन विमन्त्रण की मनन साधना के द्वारा अनाश्रयतना जिनकी जागृत हो रही है, सम्यक्त्व जिनके आत्म-प्रदर्शकों में समन्वय से फैल चुका है, वधार्थ-बोध की जिनको प्रतीति हो चुकी है, एवम् आचार्यश्री में एक अभेद स्वर प्रकट होता है-

अल्पश्रुत श्रुतवता परिहासधाम,
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिल किल मधु मधुर विरोति,
तच्च्यारुचूतकलिका - निकरेकहेतुः ॥ ६ ॥

अल्पश्रुतम्	- अल्पज्ञानी, (आर)
श्रुतवताम्	- श्रुतधरो के (आप)
परिहासधाम	- परिहास का पात्र/प्रसन्नता का धाम
माम्	- मुझको
त्वद्भक्ति एव	- आपकी भक्ति ही
बलाद्	- बलपूर्वक - जबरन
मुखरीकुरुते	- बोलकर कर रही है,
किल	- निश्चय में - मधुमय
कोकिल	- कौतिल
मधु	- अमृत-रस
मधुर	- मधुर स्वर में
विरोति	- उद्गुस्ती है
तच्च्यारुचूतकलिका	- ५६

मे सोचती हूँ अल्पज्ञानी और अज्ञानियो से तो पूरा ससार भरा है। क्या परम श्रुतधर इन सबकी मजाक कर सकते हैं ? और यदि ऐसा सही है तो फिर करुणा कौन करेगा ?

कोशकारो के अनुसार “हास” शब्द के दो अर्थ हैं—

१ हसी — मजाक, २ प्रसन्नता।

विशेष मे इस पर “परि” उपसर्ग लगा है। “परि” शब्द उपसर्ग के रूप मे धातु या सज्ञाओ से पूर्व लगकर सर्वत, चारो ओर, इधर-उधर, इर्द-गिर्द, बहुत, अत्यन्त अर्थ मे प्रयुक्त होता है। अब इसके प्रयोग देखे—

परि + वार—चारो तरफ से जहाँ वार होते हैं, जैसे—सुख-दुःख के, प्यार—तिरस्कार के, अच्छे-बुरे आदि से घिरा हुआ।

इसी प्रकार—

परिग्रह	— चारो तरफ से पकड़ा हुआ, घिरा हुआ
परिभ्रमण	— अत्यन्त भटकनेवाला
परिक्रिया	— बाड़ लगाना
परिक्रम	— प्रदक्षिणा लगाना
परिचय	— जान — पहचान

मजाक के अर्थ मे “हास” शब्द के पूर्व “उप” उपसर्ग प्रसिद्ध था। धीरे-धीरे “परिहास” शब्द भी इसी अर्थ में व्यापक हुआ, वरना दोनो उपसर्ग अपने अलग-अलग रूप मे ही व्यापक हैं और दोनो के अर्थ मे अन्तर भी है।

जैसे परिहार—उपहार। यहा परिहार याने छोड़ना—तिलाजलि देना है और उपहार याने आहुति—भेटादि। परिक्रम—उपक्रम। परिक्रम याने चारो ओर घूमना, प्रदक्षिणा करना और उपक्रम आरम्भ—शुरू करना।

इन सबको देखकर यहाँ “हास” शब्द प्रसन्नता वाचक मानकर परि उपसर्ग लगने से “सर्वत प्रसन्नता के पात्र” ऐसा अर्थ अधिक उचित लगता है। और इस प्रकार परमात्मा मे अभिप्रेत होकर पक्तियों का अर्थ इस प्रकार होता है—

(आप परम वीतराग हो) अल्पज्ञानी और श्रुतधर (इन सब) के आप सर्वत प्रसन्नता के (अनन्य) पात्र हो, अतः हे प्रभु! मचमुच तुम्हारी भक्ति मुझे हठात् मुखरित करती है।

समाप्त में कही भी जायेंगे—कोई किसी न किसी रूप मे दुःखी है, कोई किसी न किसी रूप में तत्कालीन पा रहा है। परम स्वरूप ही ऐसा है, जिसके चारों तरफ केवल आनन्द ही आनन्द है, प्रसन्नता ही प्रसन्नता है। आप “लोगस्” में बोलते हो—“तित्थयरा मे पमोयन्तु”। तोयंकर मुझ पर प्रसन्न होओ। उनकी प्रसन्नता, उनका आनन्द-प्रसाद हम में प्रसन्नता प्रदान करे। नाचे देखो, ऊपर देखो, मुख पर देखो, चरण देखो, उनकी वाणी देखो, उनका व्यवहार देखो, उनके शब्द देखो, जो भी देखोगे, जहाँ भी देखोगे वही प्रसन्नता

या आगे। और यदि उनका स्मरण करके प्रसन्नता नहीं मिलती है तो समझ लेना कि हमारी भक्ति में कहीं न कहीं कमी है।

“चित्त प्रसन्ने रे पूजन फल कह्यु

पूजा अखंडित एह रे”

उक्त स्तवन का एक ही फलितार्थ है कि व्यक्ति में कहीं न कहीं चित्त की प्रसन्नता प्रस्फुटित होनी चाहिये।

परमात्मा प्रसन्नता के धाम हैं और हम उनसे प्रसन्न होना चाहते हैं। प्रसन्न का स्मरण करके तो हमें प्रसन्नता मिलेगी। दुःखी का साथ करेंगे तो दुःख मिलेगा। प्रसन्नधाम का साथ करके तो प्रसन्नता अपने आप में प्रस्फुटित हो जायेगी। यह बात निश्चित है कि परमात्मा का प्रसन्नता हमका नहीं मिलती है। हम में ही प्रसन्नता है। यह प्रसन्नता प्रसन्न-धाम के पास पहुँच करके सम्पूर्ण अनावृत हो सकती है।

आगे कहते हैं—“माम् त्वद्भक्तिरेव बलात् मुखरीकुरुते” मुझे तुम्हारी भक्ति ही “बनात्” याने जबरदस्ती “मुखरीकुरुते” याने बोलने के लिये विवश कर रही है। “माम्” याने मुझे। “माम्” कहने वाले सिर्फ मानतुगाचार्य नहीं, सिर्फ दिव्यप्रभा नहीं, माम् कहने वाले आप सब हो सकते हो। याद रखिए, इसके शब्दों के निर्मित अर्थ में बध जाओगे तो भक्तामर आपको आज नहीं, कभी भी नहीं मिल सकेगा। लेकिन भावों से परमरूपता स्थापित करोगे तो भक्तामर आप में आज भी जीवत हो उठेगा। आचार्यश्री ने “माम्” शब्द को रखकर सब भक्तजनों को अपने साथ कर लिया है। उन्होंने यह मनसाया कि “माम्” याने मुझे। “मुझे” से मतलब जो भी “भक्तामर” का स्तवन करेगा उन सबको। “त्वद् भक्तिरेव” तुम्हारी ही भक्ति, और किसी की नहीं। “बलात् मुखरीकुरुते” जबरदस्ती बाचाल करती है।

“मुखरीकुरुते” चाहता तो हूँ मौन रहकर तेरी आराधना करूँ परन्तु बलात् मेरी वाचा प्रकट हो रही है। परमात्मन्! मैं न तो बोलता हूँ, न गाता हूँ लेकिन मेरे से जवरदस्ती बोला जा रहा है।

पूर्व में हमने देखा था—भक्त विवश हो रहा था लेकिन विवशता की एक सीमा होती है। विवशता मिट जाती है लेकिन बलात् असीम होता है।

इस प्रकार “बलात्” शब्द भक्ति को एक चरम सीमा तक ले जाता है।

१ “बलात्” शब्द का प्रयोग कर आचार्यश्री यह कहना चाहते हैं कि ऐसे तो मौन रहकर ही तुम्हें मना सकता हूँ परन्तु तुम्हारे प्रति रही हुई भक्ति बलात् ही मुझे मुखरित कर रही है।

२ तू वीतराग है, अनुपम है, तू तुझ में ही लीन है, तू चाहने न चाहने के सारे द्वन्द्वों से भी मुक्त है, फिर भी मैं बलात् ही तुझे अपने हृदय में बाध रहा हूँ।

अब आचार्यश्री एक बहुत सुन्दर दृष्टांत बताते हैं—

यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरैति।

तच्च्यारुचूतकलिका – निकरैकहेतु ॥

जैसे आम्रवृक्ष के ऊपर जब मजरी आती है तब मजरी के उस समूह को देखकर कोकिल पक्षी कूजना शुरू कर देता है और वह समय मधौ याने वसन्त ऋतु का होता है। कोकिल को कौन कहने जाता है कि अब वसन्त ऋतु आ गई है, लेकिन आम्र-मजरी को देखकर कोकिल समझता है कि वसन्त ऋतु आ गई है।

ओ आनन्द के धाम! आपकी पूर्ण वीतरागता से मैं अपनी निज स्वाभाविकता को अभिप्रेरित कर रहा हूँ। सर्वतः प्रसन्न तेरी शान्तमुद्रा को हृदय में स्थापित कर चित्त को पसन्न कर रहा हूँ।

ससार के इस सम्यक्त्व उपवन में मेरे जीवन की धर्म वसन्त पुरबहार खिल रही है, मैं कितना भाग्यशाली हूँ। तुम तो पचम काल में मेरे शमने साक्षात् हो रहे हो और भक्तिबल से मैं प्रत्यक्ष स्तुति कर रहा हूँ। पचम काल में ऐसी परमार्थ भक्ति एव आत्मानुभव धर्मलब्धि का यह कैसा मधुर मौसम है।

आपके सदगुणों की, वीतरागभावों की, आत्मिक प्रसन्नता की मजरियाँ देखकर मेरा आत्म-कोकिल कूक उठता है, कुहुकता है। मेरी कूक है मुक्ति की। परमात्मन्! इस कूक में कूक मिल जाये, मिलन का बधन हो जाय और बधन की मुक्ति हो जाय।

अब मैं तेरे बधन में बँध गया। अपने ऊँचों की, अपने पापों की, अपनी जन्म-परम्पराओं की मुक्ति का अभिप्रयोग मागता हूँ। ऐसे परार्थ भाव में लीन आचार्यश्री के भीतर से वाणी प्रस्फुटित होती है।

त्वत्संस्तवेन भवसन्ततिसन्निबद्ध,
पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्।

आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु,
मूर्याशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥७॥

त्वत्सग्नवन	- आपके स्तवन से
शार्ङ्गभाजाम्	- देहधारी जीवों का-प्राणियों का
भयवन्ततिर्माप्रवृद्धम्	- परम्परागत भयभयान्तरा से बघा हुआ
पापम्	- पापकर्म
आक्रान्तलोकम्	- समस्त लोक में फैल हुए-ससार भर में व्याप्त
अनिनानम्	- प्रभु के समान काला
मूर्याशुभिन्नम्	- सूर्य की किरणों से छिन्न-भिन्न (तुण) किया हुआ
शार्वरम्	- रात्रि विषयक-रात्रि में होने वाले
अमन्धकारम्	- अन्धकार के
इव	- समान
अरोपम्	- मद का मद
क्षणात्	- क्षण भर में-शीघ्रातिशीघ्र
क्षयम्	- विनाश को
उपैति	- प्राप्त हो जाता है।

होता है, परम्परा। पाप कैसे हैं तो कहते हैं कि सतति रूप। ससार मे स्त्री-पुरुष बध्य हो सकते हैं लेकिन पाप कभी बध्य नहीं हो सकते हैं। एक पाप दूसरे पाप को, दूसरा पाप तीसरे पाप को लाता ही जाता है। पाप की अपनी एक विशिष्ट परम्परा है और उस परम्परा का विच्छेद करना है। परमात्मा के सिवाय यह कैसे सभव है ?

व्यक्ति जब दुःखी होता है तब सोचता है, मुझे दुःख क्यों आया ? एक बात निश्चित है कि कोई किसी को दुःख नहीं दे सकता है।

हमारे कर्म अशुभ हो तभी हम दुःखी हो सकते हैं। दुःखी होते हैं कर्म से, लेकिन कर्म कौन देता है ? क्या हमें कोई जबरदस्ती कर्म देता है ? नहीं न। तो फिर कर्म कहा से आते हैं ? तो कहते हैं—पाप से कर्म आते हैं। हमारी गलती यह है कि हम दुःख हटाने का प्रयास करते हैं लेकिन पाप हटाने का प्रयत्न नहीं करते हैं। हमारी पाप की फैक्ट्री सतत चालू रहती है। पाप आते हैं, कर्म लाते हैं, कर्म आते हैं, दुःख लाते हैं। इसलिये आचार्यश्री ने परमात्मा से दुःख का नाश नहीं मागा किन्तु पाप का नाश मागा। देखिए, कितना सुन्दर आयोजन बताया उन्होंने। ऐसा कभी नहीं कहा कि तेरे जैसा भगवान मेरे साथ हो और मुझे कोई राजा बेड़ियों में बाध दे ? उन्होंने ऐसा भी नहीं कहा कि तू आकर के इन बेड़ियों को तोड़ दे।

पाप तो अनादिकाल से हैं। इन्हें तोड़ने के लिये कितने घटे चाहिये— ४ घटे, ८ घटे, १२ घटे।

हमारे पास वैसे तो कोई शक्ति नहीं है कि अनादिकाल के पापों को क्षण भर में तोड़ सके, लेकिन क्षण भर में अनादिकाल के पापों को बाध सकते हैं, यह ताकत हम में अवश्य है। इस ससार को क्षण भर में बाध सकते हैं इतनी ताकत तो हम में है, लेकिन अनादिकाल से सलग्न ससार को क्षण भर में तोड़ने का बल हम में नहीं है।

आचार्यश्री कह रहे हैं—अनादिकाल के पापों का क्षण भर में नाश हो सकता है। हम आचार्यश्री से प्रश्न पूछेंगे कि जो अनादिकाल से पाप करते आये हैं, उनको क्षण भर में कैसे तोड़ सकते हैं ? यह कैसे सभव हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर आचार्यश्री ने आगे की पंक्तियों में दिया है—

आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमाशु

सूर्याशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम्॥

एक बहुत सुन्दर उदाहरण द्वारा आचार्यश्री यहाँ समाधान

सम्पूर्ण लोक में व्याप्त भवरे जैसी अमावस्या की काली

हटाने के लिये कितने घटे चाहिये ? १२, १५ घटे के अधिकार को

भर में नष्ट कर देती है। उसी प्रकार अनादिकाल के पाप

कृपा रूपी किरण के द्वारा क्षणमात्र में नष्ट हो सकते हैं।

प्रथम श्लोक में परमात्मा के लिए एक विशेषण का प्रयोग किया गया “उद्योतकम्” अर्थात् उद्योत करनेवाले, प्रकाश करनेवाले। जो प्रकाश करता है, आलोक जगाता है वह सूर्य का ताड़ता है, अतः प्रथम श्लोक में कहा है “दलितपापतमो वितानम्” पाप के विनाश करनेवाले। आप ध्यानपूर्वक देखेंगे तो इस श्लोक में उस विशेषण का प्रयोग यहाँ पाओगे।

अब यहाँ आगे “सूर्य अशु भिन्न” शब्द है। अशु का मतलब होता है किरण। सूर्योदय के परल उजाला शुरू हो जाता है। उसके बाद सूर्योदय होता है। करीब-करीब हमारे यहाँ उस उजाल की २४ मिनट की मर्यादा मानी गई है। अतः कहते हैं—सूर्य की किरणें निकलने के साथ ही अधकार को क्षण भर में छिन्न-भिन्न कर देती हैं, भेद कर देती हैं, तोड़ देती हैं और अधकार को प्रकाश में परिवर्तित कर देती हैं।

इसलिए कहा है—“भत्तीइ जिणवराण खिप्पति पुब्बसच्चिया कम्मा” परमात्मा के ज्ञान में देह और आत्मा में रही हुई अभेद बुद्धि छिन्न-भिन्न हो जाती है। इसे ही भेदविज्ञान कहा है। यह देह मेरे से सर्वथा भिन्न है। वेड़ियों के बघन तो देह पर लटक रहे हैं। न देह का भेद, न मैं देह का हूँ। देह में उत्पन्न कोई भी अवस्था मेरी नहीं है।

इस भेद विज्ञान से अनादिकाल का मिथ्यात्व टूटता है, सम्यक्त्व प्रकट होता है। जब ज्ञान और आत्मा में भेद बुद्धि प्रकट होती है, देह का अध्यास छूटता है तब आत्मा का आदर्शन स्वरूप प्रकट होता है। कहा है—

“छूटे देहाध्यास तो नहीं कर्ता तू कर्म,
नहीं भोक्ता तू तेहनो एज धर्म नो मर्म।
एज धर्मयी मोक्ष छे तू छे मोक्ष स्वरूप,
अनत दर्शन ज्ञान तू अव्याबाध स्वरूप” ॥

“आत्मनिर्दि” में कहा है—

अर्थात् दर्प नु स्वप्न पण जागृत धता समाय,
अभिभाव अनादिनो ज्ञान धता दूर थाय।
आँसु दर्पों का स्वप्न जगने पर क्षणभर में ही टूट जाता है। उसी प्रकार ज्ञान होते ही अभिभाव की दिभाव पर्याय, देह में रही हुई आत्मबुद्धि क्षणभर में ही दूर हो जाती है। श्री विनायकसूरिजी महाराज ने “किकपूरमय स्तोत्र” बनाया है जिसके अन्तर्गत इन दो श्लोकों का उद्धरण प्रस्तुत किया है —

विश्वव्यापितमो हि नस्ति तरणिर्बालोपि कल्पाद्भुरो।

सर्वव्यापि गजावली हरिशिशु काष्ठानि वन्दे कण ॥ (श्लोक ६)

अधकार के तरणियों की तुलना काष्ठानि सूक्ष्म भी क्षणभर में नाश कर सकता है।

७. प्रारम्भ

प्रारम्भ वही श्रेष्ठ होता है जिसमें पूर्णाहुति निहित हो। जिस प्रारम्भ से सफलतापूर्वक पूर्णाहुति की जा सकती है, उस प्रारम्भ से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं होता। जिस प्रक्रिया के द्वारा सम्मत्ता का संकेत मिलता हो उसी का हम अपने जीवन में प्रयोग करते हैं, जिस परिणति में हमें सफलता दृष्टिगोचर होती हो उसके लिए हम प्रयत्न करते हैं।

आठवें श्लोक का प्रारम्भ भक्तामर स्तोत्र का प्रारम्भ है। आठवें श्लोक का प्रारम्भ भक्त रत्नमाला के मिलन का प्रारम्भ है। आठवें श्लोक का प्रारम्भ हमारे निज स्वरूप की पहचान का प्रारम्भ है और आठवें श्लोक का प्रारम्भ हमारी अनादि काल की जो खोज चल रही है उसकी पूर्ण उपलब्धि का प्रारम्भ है। इस प्रकार यह श्लोक बहुत महत्व का श्लोक है। ७ श्लोकों तक परमाला के साथ भेद रहा है। मैं अलग हूँ, परम स्वरूप मुझ में अलग है। ८ श्लोक तक अलगाव है तब तक हम जिस पूर्णाहुति की आकांक्षा करते हैं वह परिपूर्ण नहीं होती। इस आकांक्षा के साथ अनुराग और अनुराग के साथ उपलब्धि, ये हमारी प्रक्रिया की सार्थकता है।

४२ भक्तामर स्तोत्र एक दिव्य दृष्टि

- | | |
|-----------------------------|---|
| २. कल्पाकुरो दारिद्र्याणि | — कल्पवृक्ष का अकुर मात्र भी दारिद्र्य का नाश कर सकता है। |
| ३. गजावलीं हरिशिशु | — सिंह का बच्चा भी गजपंक्ति का नाश कर सकता है। |
| ४. काष्ठानि वन्दे कण. | — अग्नि का कण भी काष्ठ समूह का नाश कर सकता है। |
| ५. पीयूषस्य लवोऽपि रोगनिवहे | — अमृत की एक बूँद भी रोग समूह का नाश कर सकती है। |
| यद्वत्तथा | — उसी प्रकार |
| विभो ते मूर्ति | — परमात्मा तेरा स्वरूप |
| त्रिजगति कष्टानि | — तीनों जगत के कष्टों का |
| हर्तुं क्षम | — नाश करने में समर्थ है। |

यह तो वैधानिक सिद्धान्त है कि जहाँ तू आ गया, तेरा स्तवन आ गया, तेरी भक्ति हो गई वहाँ अनादि काल के, जन्म-जन्म के, भव-सत्ततिरूप सन्निबद्ध पाप क्षण में ही क्षय को प्राप्त होते हैं। हे परमात्मन् ! जिसका आत्मा रूपी कोकिल कूजेगा उस कूज में तेरी कृपा की कूज मिल जायेगी, मिलन का बंधन हो जायेगा, बंधन में मुक्ति का मार्ग मिल जायेगा। इस मार्ग पर हमारे कदम बढ़ते जायेंगे और मुक्ति का मार्ग प्रस्तुत होता जायेगा। अगले रविवार को वास्तविक स्तोत्र की भूमिका का प्रारंभ हो रहा है।

मुनिश्री परमात्मा के साथ Adjust हो गये, Agreement हो चुका है, भक्त-परमात्मा से बंध चुका है, बंधन से मुक्ति का मार्ग मिल गया है। अब मुक्ति मार्ग पर प्रयाण के प्रारंभ को हम आठवें श्लोक के द्वारा हम में अनुस्यूत करेंगे।

४२ भक्तामर स्तोत्र . एक दिव्य दृष्टि

- | | |
|----------------------------|---|
| २ कल्पाकुरो दारिद्र्याणि | — कल्पवृक्ष का अकुर मात्र भी दारिद्र्य का नाश कर सकता है। |
| ३. गजावलीं हरिशिशु | — सिंह का बच्चा भी गजपंक्ति का नाश कर सकता है। |
| ४ काष्ठानि वन्दे कण | — अग्नि का कण भी काष्ठ समूह का नाश कर सकता है। |
| ५ पीयूषस्य लवोऽपि रोगनिवहे | — अमृत की एक बूँद भी रोग समूह का नाश कर सकती है। |
| यद्वत्तथा | — उसी प्रकार |
| विभो ते मूर्ति | — परमात्मा तेरा स्वरूप |
| त्रिजगति कष्टानि | — तीनों जगत के कष्टों का |
| हर्तुं क्षम | — नाश करने में समर्थ है। |

यह तो वैधानिक सिद्धान्त है कि जहाँ तू आ गया, तेरा स्तवन आ गया, तेरी भक्ति आई, वहाँ अनन्त काल के, जन्म-जन्म के, भव-सततिरूप सन्निबद्ध पाप क्षण में ही क्षय व प्राप्ति होते हैं। हे परमात्मन्! जिसका आत्मा रूपी कोकिल कूजेगा उस कूज में तेरी कृपा व कूज मिल जायेगी, मिलन का बधन हो जायेगा, बधन में मुक्ति का मार्ग मिल जायेगा। इस मार्ग पर हमारे कदम बढ़ते जायेंगे और मुक्ति का मार्ग प्रस्तुत होता जायेगा। अगले रविवार को वास्तविक स्तोत्र की भूमिका का प्रारम्भ हो रहा है।

मुनिश्री परमात्मा के साथ Adjust हो गये, Agreement हो चुका है, भक्त-परमात्मा से बंध चुका है, बधन से मुक्ति का मार्ग मिल गया है। अब मुक्ति मार्ग पर प्रयास के प्रारम्भ को हम आठवें श्लोक के द्वारा हम में अनुस्यूत करेंगे।

सता	— सत्पुरुषों के, सज्जन पुरुषों के
चेत हरिष्यति	— चित्त को हरण करेगा
ननु	— निश्चय से
उदबिन्दु	— जल की बूँद
नलिनीदलेषु	— कमलिनी के पत्तों पर
मुक्ताफलद्युतिम्	— मोती की कान्ति को
उपैति	— प्राप्त करती है।

सर्वश्रेष्ठ सम्बोधन “नाथ।” शब्द के द्वारा यहाँ परमात्मा के मिलन का प्रारम्भ हो रहा है। नाथ शब्द रखकर भक्त अपना सर्वस्व समर्पित कर रहा है। हे नाथ! तेरे बिना अभी तक मैं अनाथ था, तुझे नाथ कहते ही मेरी अनाथता समाप्त हो गई और नाथत्व प्रकट हो गया, क्योंकि नाथ ही नाथ बनाता है, अनाथत्व मिटाता है।

प्रारम्भ में “इति मत्वा” शब्द भी अत्यन्त महत्वपूर्ण सम्बन्ध को प्रस्तुत करता है। “इति” याने “ऐसा” और “मत्वा” याने “मानकर”। “ऐसा मानकर” कहते ही प्रश्न उठता है “कैसा मानकर?” इस प्रश्न का उत्तर ऊपर के सात श्लोको से ही अभिव्यक्त होता है। आत्मा-परमात्मा के पूर्व सम्बन्ध का संकेत सुदृढ़ कर यह शब्द समापत्ति की योजना को अनावृत करता है।

पूर्व नियोजित सात श्लोको में मेरा और आपका मेरे द्वारा माना हुआ सम्बन्ध इस प्रकार है। आप मेरे लिये—

- १ उद्योत करने वाले,
 - २ घने अधकार रूप पापों के विस्तार का नाश करनेवाले,
 - ३ ससार रूप समुद्र में गिरते हुए प्राणियों के परम आलम्बन,
 - ४ देवेन्द्रों द्वारा सस्तुत,
 - ५ जिनका चरणासन विबुधों द्वारा अर्चित है,
 - ६ गुणों के सागर हैं, और
 - ७ आपके स्तवन से अनादिकालीन परम्परा का सर्जन करनेवाले पापों का क्षण में ही नाश होता है।
- मैं स्वयं को आपका
- १ निश्चय से स्तुति करनेवाला (ऐसी प्रतिज्ञावाला)
 - २ बिना बुद्धि का
 - ३ बिना लज्जा का
 - ४ स्तुति करने के लिए समुद्यत मतिवाला

४६ भक्तामर स्तोत्र एक दिव्य दृष्टि

मोती की शोभा को प्राप्त होती है वैसे मेरे मुख से निकले ये शब्द स्तवन की शोभा को प्राप्त होते हैं।

ननु याने निश्चय से यह तेरे “चेतो हरिष्यति” चित्त का हरण करेगा ही। क्योंकि तुझे ही सुनाने को, मनाने को यह स्तवन कर रहा हूँ।

जहाँ भाव होता है वहाँ प्रभाव होता है। ऐसी विशिष्ट उपलब्धि से वंचित सामान्य व्यक्ति इस परिस्थिति से अनभिज्ञ होने से इसका अनुभव नहीं कर पाता है और इसी भ्रान्तिपूर्ण मिथ्यादृष्टि से वह इसे ही गलत भी मान सकता है। ऐसी एक सफल मानसदशा की विलक्षण अभिव्यजना हम भाव-प्रभाव नामक प्रवचन में गाथा ९ के द्वारा प्राप्त करेंगे।



८. भाव-प्रभाव

द्रव्य एक मात्र एव स्वाभाविक तत्त्व है। द्रव्य का आना, द्रव्य का होना, द्रव्य का घटना, द्रव्य का द्रव्य से सम्बन्ध बनना यह बहुत स्वाभाविक होता चला जा रहा है। द्रव्य घटनाओं से घुके हैं लेकिन हम यह देख रहे हैं कि द्रव्य घटनाओं को उद्वेलित कर रहा है और घटनाएँ हजारों भावों को उभारती हैं। भावकर्म हमारी अपनी ही घटनाओं में चतनरूप है। ये भाव हमें स्वभाव से विभाव में परिवर्तित करने का प्रयत्न करते हैं। इस समय घटनाओं के निमित्त से ही आत्मद्रव्य की पहचान कर निजभाव और परमात्म-प्रभाव द्वारा भीतर से घटनातीत होने की कला हमें भक्तामर स्तोत्र से उपलब्ध होती है।

दरी द्रव्य है, भक्ति भाव है और स्तवन से दूटना प्रभाव है। द्रव्य से भाव बड़ा है और भाव से प्रभाव बड़ा है। द्रव्य की कोई कीमत नहीं होती। चन्दनवाला के उड़द के वाकुले का कम मूल्य था, लेकिन चन्दन के भाव मूल्यवान थे और उन भावों से भी बढ़कर परमात्म का प्रभाव था। इस प्रकार द्रव्य की अपेक्षा भावों का और भावों की अपेक्षा परमात्म का मूल्य अधिक है।

भाव और प्रभाव के इस महत्त्व को आचार्यश्री ने बहुत अच्छी तरह से समझाते हुए कहा है-

आस्ता तव स्तवनमस्त-समस्त-दोष,
त्यत्सकथाऽपि जगता दुरितानि हन्ति।
दूरे सहस्रकिरण कुरुते प्रभैव,
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥९॥

४८ भक्तामर स्तोत्र एक दिव्य दृष्टि

दुरितानि	— पापो को, अपराधो को
हन्ति	— हनन करती है, नष्ट करती है
सहस्रकिरण	— सूर्य
दूरे	— दूर (है फिर भी उसकी)
प्रभा एव	— कान्ति ही
पद्माकरेषु	— सरोवरो मे
जलजानि	— कमलो को
विकासभाञ्जि	— विकसित, प्रफुल्लित
कुरुते	— कर देती है।

दूर-दूर आकाश मे रहा हुआ सूर्य किरणो को सर्वत फैलाता है। उनमे से कुछ किरण सरोवर के बन्द कमलो को खोल देती हैं। इस उदाहरण द्वारा यहाँ परमात्मा के प्रभाव की अद्भुतता प्रकट की गई है।

हे परमात्मा! तेरे भक्ति प्रभाव के कारण यह तेरा स्तोत्र शब्द, अर्थ, रचना और भाव आदि समस्त सम्बन्धित दोषो से रहित हो रहा है, समस्त दोषो का अस्त हो रहा है। भाषा-लालित्य, भाव-प्रधानता, तत्त्व-दुर्बोधता आदि अनेक कारणो से तेरा स्तवन सुगम्य नहीं हो सकता है। फिर कइयो को भक्ति रस के आस्वादन का भी बोध नहीं होता है। इन सभी दृष्टिकोणों से तेरा यह निर्दोष स्तवन कितना आस्वाद्य और आह्लादजनक हो रहा है। इसका महत्वपूर्ण कारण मेरे ऊपर तेरा अभूतपूर्व प्रभाव है।

स्तवन की इन सुगम्यता से अनभिज्ञ यदि तेरी अनुभूत जिदगी के प्रसंगो का चिन्तन करे तो भी वह सर्व दुरितो से मुक्त हो सकता है। क्योंकि, तत्त्व को पृष्ठभूमि मे रखकर समत्व द्वारा प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थितियो को तूने अनुकूल बनाली है। इसी विशेषता से ही तू सृष्टि का महान तत्त्व है।

सामान्य व्यक्ति तत्त्व की अगम्यता के कारण अनुकूल को प्रतिकूल बनाता है। तूने प्रतिकूलताओ को अनुकूल बनाकर चेतना का विस्तार और विकास किया। तू सिद्धलोक मे मुझसे सात राजुलोक दूर है। अजर, अमर, अशरीरी, अयोगी, अलेशी, अकषायी और अकर्मी है। तेरे गुणो की स्तुति करने वाला मैं इस मृत्युलोक पर जन्म-मृत्यु की महायात्रा के चक्कर काट रहा हूँ, फिर भी तेरे स्तुति-गान और जीवनकथा-श्रवण का यह अचिन्त्य प्रभाव है कि मेरे पाप-कर्म और अनिष्टो का नाश हो रहा है।

भक्त के हृदय की भक्तिभावपूर्वक की उर्मियों, स्पदन, तरंगे (Vibration) तेरे निरजन, निर्लेप, चैतन्य, सिद्धावस्था तक पहुँचकर तेरे वीतरागत्व का स्पर्शकर इस आत्मकमल को विकसित करती हैं। इस प्रकार तू दूर भी है परन्तु तेरी कृपा किरण मेरे आत्म-कमल को विकसित करती है।

५० भक्तामर स्तोत्र एक दिव्य दृष्टि

कमल	— भक्तात्मा
पानी की बूँदे	— शब्द
मोती	- स्तवन-स्तोत्र

यहाँ बेड़ी का बधन आ जाना द्रव्यस्थिति है। उस द्रव्यस्थिति में घटनाओं के द्वारा स्वयं को विचलित न होने देना, स्वयं में स्थिर रहना तथा परमात्मभाव में एकाग्र रहना भाव है। भाव जब परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करते हैं तब परमात्मा के प्रभाव से बेड़ियों के बन्धन टूटते हैं। वर्तमान युग में हमारी स्थिति ऐसी विचित्र है कि हम परमात्मा के प्रभाव को चुनौती देते हैं, परन्तु स्वयं के भावों का कोई भरोसा नहीं है। बिना भावों का प्रभाव संभव नहीं है।

इन्हीं प्रभावों को मुख्य लक्ष्य बनाकर हम भक्तामर स्तोत्र का मूल्यांकन या आराधन करते हैं। भावों का अभाव प्रभाव के उद्देश्यों को पूर्ण नहीं कर पाता है। इसी अधूरेपन से कभी अधीरता बढ़ती है, कभी टूटती है। ऐसा अद्भुत स्तोत्र प्राप्त होने पर ऐसा क्यों होता है? इस आश्चर्य का उत्तर श्लोक १० के द्वारा समझने का प्रयत्न करेंगे।



१. आश्चर्य

घटनाओं का होना बहुत स्वाभाविक है केवल आचार्यश्री पर ही नहीं, हम सबके ऊपर घटनाओं का नहीं आना ससार का एक आश्चर्य है, घटनाओं का आ जाना ससार की एक स्वाभाविकता है। ससार का कोई भी प्राणी, कोई व्यक्ति, कोई जीव ऐसा नहीं होगा जिसके ऊपर घटनाओं ने कभी प्रहार न किया हो।

घटनाओं में घटनातीत रहना ससारियों के लिये आश्चर्य है। इसी कारण आचार्यश्री की वेड़ियों का टूट जाना हमारे लिए एक बहुत बड़ा आश्चर्य हो गया। जो हममें नहीं होता और किसी विशेष में वह हो जाना, आश्चर्य है।

आश्चर्य को विशेष परिप्रेक्ष्य में देखने पर हमें अद्भुतता प्राप्त होती है, वह यह कि आश्चर्य आचार्यश्री को भी था और आश्चर्य तत्समय उपस्थित जनसमुदाय को भी था। लेकिन दोनों के आश्चर्य में बड़ा Difference था, अन्तर था। लोगों को आश्चर्य था दिना साधनो के अनायास वेड़ियों के वधन टूटने का और आचार्यश्री को आश्चर्य था परमात्मा के वीतराग दर्शन का। वीतरागी का वीतरागत्व रागी के लिए एक बहुत बड़ा आश्चर्य होता है।

अधिकांश बाल-जीव परमात्मा की बाह्य विभूति से प्रभावित होते हैं और इस विभूति को देखकर इस प्रकार सोचते हैं कि हम उनको नमस्कार करेंगे तो हमें भी ऐसी विभूति प्राप्त होगी। इस बाह्य विभूति से परमात्मा का महत्त्व समझना हमारी सबसे बड़ी भ्रान्ति है। क्योंकि, परमात्मा की आन्तरिक विभूति उनका सबसे बड़ा वैभव है। सर्वश्रेष्ठ विभूति इस ससार की हमारे अरिहन्त और सिद्ध के पास होती है और वह है उनका वीतरागत्व। हमारा यह सबसे बड़ा सौभाग्य है कि सबसे पहले वीतरागता का दान, वीतरागता की समझ, वीतरागता के ख्याल, वीतरागता के सिद्धान्त और वीतराग बन जाने का सन्मार्ग हमें परमात्मा ने प्रस्तुत किया।

गौतम स्वामी ने परमात्मा महावीर से एक बार पूछा था—हे परमात्मन्! आप परमात्मा बन गये, हम सबको उपदेश देते हैं, लेकिन हम भी कभी परमात्मा बन सकते हैं क्या? परमात्मा ने कहा—बनना और होना इन दोनों में बड़ा Difference है। कोई परमात्मा बनता नहीं है, परमात्मा हो जाता है। तुम स्वयं परमात्मा हो। आत्मा से परमात्मा हो जाना, अपने ही स्वभाव में आ जाना है। गौतम! जिसने आत्मा का इस बाह्य वातावरण के साथ अभेद कर रखा है उसे शरीर पर होने वाली क्रियाओं की भावात्मक प्रतिक्रिया होती है। वह सारी देह पर्याय को आत्मारूप मानकर देह-स्वभाव को आत्म पद में आरोपित करता है। परमात्मा पद याने इन भावात्मक प्रतिक्रियाओं से रहित हो जाना है।

हम परमात्मा की आराधना इसलिए करते हैं कि—हम सतत राग और द्वेष से भरे हुए हैं। हमने कभी उनके जैसा वीतरागत्व का अनुभव नहीं किया। वीतराग अच्छे लगते हैं लेकिन वीतरागपना किसी को नहीं भाता है। परमात्मा ने कहा—राग और द्वेष को छोड़े बिना किसी का मोक्ष नहीं होगा। इस वीतराग धर्म की अंतिम शर्त है—राग और द्वेष का त्याग करो।

एक आश्चर्य हमें यह भी हो सकता है कि आचार्यश्री को बेड़ी के बधन क्यों आये ? कितने पुण्यवान होते हैं सत, कौन उनको बेड़ी में बँध सकता है ? आचाराग सूत्र में कहा है—“एस वीरे पससिए जे बद्धे पडिमोयए” अर्थात्—वही वीर प्रशंसित होता है जो बद्ध को मुक्त करता है। हर समय वह यही सोचता है कि मैं किस मार्ग पर चल कर बधनों से मुक्त हो जाऊँ और अन्यो को बन्धनो से मुक्त करूँ। जिसने सर्वथा सतत बधनो से मुक्त होने के लिये प्रयास किये उनको क्यों बेड़ी के बधनो में बाधे गये ?

इस विशेष आश्चर्यजनक घटना का प्रभाव शक्रेन्द्र पर पड़ता है और शक्रेन्द्र का आसन चलायमान होता है। वे आचार्यश्री के पास आते हैं। नमस्कार की मुद्रा में उनके पैर पकड़ लेते हैं।

स्पर्श का अनुभव कर आचार्यश्री ने कहा—“कौन हो तुम ?”

उन्होंने कहा—“मैं परमात्मा महावीर का भक्त हूँ। उनके शासन का प्रेमी हूँ, उनके सतो का दास शक्रेन्द्र हूँ।”

“तुम किसलिए यहाँ आये हो ?

“मैं जैन शासन का चमत्कार बताने के लिये, आपकी बेड़ी के बधन तोड़ने के लिये और आपके अरमानो को पूर्ण करने के लिये।”

“क्या तुम मेरे अरमानो को पूर्ण करोगे और शासन का चमत्कार बताओगे ? शासन तो अपने आप में स्वयं चमत्कारिक है और हर समय रहेगा, उसका चमत्कार बताने वाले तुम कौन हो, शासन स्वयं परमात्मा देवाधिदेव से प्रभावित है।”

“भन्ते! मैं तुम्हारी बेड़ी के बधन तोड़ना चाहता हूँ।”

“लेकिन बेड़ी के बधन क्यों आये शक्रेन्द्र ? इसके कारण को देखो न। कोई किसी को बेड़ी के बधन में नहीं बाध सकता। कहा भी तो है—

“शु करवाथी पोते सुखी, शु करवाथी पोते दुःखी।

पोते शु क्याथी छे आप, तेनो मागो शीघ्र जवाब ॥”

हम सुखी और दुःखी क्यों होते हैं, इसका उत्तर किसी से मत मागो, अपने आप में ढूँढ़ लो। यदि तुम यह समझते हो मुझे कोई दुःख दे रहा है लेकिन किसी की ताकत नहीं कि

आपको दुःख दे सके। किसी की ताकत नहीं कि आपको सुख दे सके। सुख और दुःख के सम्पूर्ण उत्तरदायी तुम स्वयं हो। स्वयं के कर्म के प्रभाव से सुख और दुःख की अनुभूतियाँ जीवन में प्रकट होती हैं और इन अनुभूतियों को समझकर उसके साथ सामञ्जस्य स्थापित करना जीवन की कला है।

दुःख का कारण दूसरे को मानना यह हमारी सबसे बड़ी भ्रान्ति है। कोई भी व्यक्ति, परिस्थिति, वस्तु या अवस्था हमारे सुख-दुःख के कारण नहीं हो सकते हैं। अनुकूलता का अनुभव सुख है और प्रतिकूलता का अनुभव दुःख है, परन्तु यह तब जब हमारा अनुभव बाह्य पर्यावरण तक आश्रित हो। अनुभव जब निजस्वरूप का भोक्ता हो जाता है, सुख-दुःख का द्वन्द्व टूट जाता है, भ्रान्ति और भय मिट जाता है। माने जाने वाले सुख-दुःख के कारण हम स्वयं ही हैं, हमारे कर्म हैं।

शक्रेन्द्र, वेड़ी के वधन इसलिए आये क्योंकि मेरे साथ कर्मों के वधन निहित थे। जहाँ कर्मों के वधन हैं वही वेड़ी के वधन हैं, जैसे ही कर्मों के वधन टूटते हैं वैसे ही वेड़ी के वधन अपने आप टूटते जाते हैं। यदि आप मेरी सेवा ही करना चाहते हो, कुछ तोड़ना ही चाहते हो तो वेड़ी के वधन नहीं, मेरे कर्मों के वधन तोड़ दीजिए।

शक्रेन्द्र ने कहा—भन्ते! ससार में ऐसा कौनसा व्यक्ति है जो किसी के कर्म के वधन को तोड़ सकता हो? क्या कोई व्यक्ति, क्या कोई तत्त्व ऐसा आपने देखा है? किसी के भी कर्मों को कोई भी नहीं तोड़ सकता। स्वयं के कर्मों के वधन स्वयं को ही तोड़ने पड़ते हैं।

भन्ते! मैं वेड़ी के वधन को तोड़ सकता हूँ, कर्मों के वधनों को तोड़ने में समर्थ नहीं हूँ।

आचार्यश्री ने कहा—शक्रेन्द्र! तुम जहाँ से आये वहीं लौट जाओ। मुझे तुम्हारी किसी भी प्रकार की सेवा-सहायता की आवश्यकता नहीं है। मैं उनका ध्यान कर रहा हूँ, मैं उनकी शरण में जा रहा हूँ जिनकी शरण में जाने से, जिन की भक्ति करने से मेरे कर्मों के वधन टूट सकते हैं। उनके ध्यान की एकाग्रता में सर्व प्रकार की घटनाएँ मुझमें समभाव लाती हैं। जहाँ विषमता है, वहाँ कर्म है। जैसे ही विषमता टूटेगी, समता आयेगी, वहाँ पर कर्म का क्षय होना प्रारम्भ हो जायेगा। कर्मक्षय की बहुत बड़ी कला वीतराग परमात्मा के प्रति समर्पण और समता की है। जहाँ विषमता है, वहाँ कर्म है। जहाँ समता है वहाँ कर्म का क्षय है। शक्रेन्द्र आश्चर्यचकित होकर स्वस्थान लौट पड़े।

इन आश्चर्यों को अब हम क्रम से देखेंगे—

- १ परला आश्चर्य आचार्यश्री पर वेड़ी के वधन आना।
- २ दूसरा आश्चर्य वेड़ी के वधन तोड़ने का प्रयास नहीं करना।
- ३ तीसरा आश्चर्य किसी दैवीय चमत्कार को बताने के लिये स्तोत्र का सर्जन नहीं करना।
- ४ चौथा आश्चर्य भादनाओं को उभारकर अभिग्रस्त करना।

५. पाँचवों आश्चर्य परमात्मा के साथ तात्त्विक सम्बन्ध स्थापित करना और उनके प्रभाव से बेड़ियों के बधनों का टूटना।

कर्म पुद्गल द्रव्य है, आत्मा चेतन द्रव्य है। इस चेतन द्रव्य के ऊपर पुद्गल द्रव्य ने अपना अधिकार जमाया है, अपना प्रभाव जमाया है, लेकिन जैसे-जैसे परमात्मा का प्रभाव आता गया कर्म का प्रभाव क्षय होता गया और जैसे कर्म का प्रभाव हटता गया परमात्मा का प्रभाव पूरित होने लगा, जिसे हम आश्चर्य मानते हैं। आचार्यश्री के लिए वह कोई आश्चर्य नहीं है। इसे सहज और स्वाभाविक मानकर आचार्यश्री ने परमात्मा के साथ तात्त्विक सबध के द्वारा अपने जीवन में किस प्रकार परिवर्तन किया ? किस प्रकार आत्मा अपनी वर्तमान स्थिति में आगे बढ़ कर प्रगति करता है। इसे हम श्लोक के माध्यम से समझेंगे—

नात्यद्भुत भुवन-भूषण ! भूतनाथ !,
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्तः ।
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा,
भूत्याश्रित य इह नात्मसम करोति? ॥१०॥

भुवनभूषण	— हे विश्व के शृंगार!
भूतनाथ	— हे जगन्नाथ—हे प्राणियों के स्वामिन्!
भूतैः	— विद्यमान
गुणैः	— गुणों के द्वारा
भवन्तम्	— आपकी/आपको
अभिष्टुवन्तः	— स्तुति करनेवाले/प्रीति करने वाले/भक्ति करनेवाले
भुवि	— पृथ्वी पर
भवत	— आपके
तुल्या	— सदृश, समान
भवन्ति	— हो जाते हैं
अति	— अधिक, बहुत
अद्भुतम्	— आश्चर्यजनक, विचित्र, विलक्षण
न	— नहीं है
वा	— अथवा
ननु	— निश्चय से
तेन	— उस
किम्	— क्या

य	— जो (मालिक)
इह	— इस लोक में
आश्रितम्	— अपने अधीन सेवक को
भूत्या	— विभूति से, धन-सम्पत्ति से, ऐश्वर्य से
आत्मममम्	— अपने समान
न	— नहीं
करोति	— करता है

यहा पर दो सम्बोधन चिह्नो द्वारा परमात्मा को सम्बोधित किया गया है।

१ भुवनभूषण और

२ भूतनाथ

दोनों ही सम्बोधन विशिष्ट सम्बन्ध का सामजस्य प्रस्तुत करते हैं।

भुवनभूषण से मतलब है—हे परमात्मा आप इस लोक के भूषण हो, अलंकार हो। आपसे यह भुवन सुशोभित होता है। लोक से सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद कर जो लोकोत्तर हो गये, लोक के अग्रभाग में सिद्धावस्था को प्राप्त कर चुके उनका फिर लोक के साथ क्या सम्बन्ध हो सकता है? ऐसा प्रश्न हम सबको हो सकता है। भक्तामर स्तोत्र इस प्रश्न का उत्तर देकर लोकोत्तर का लोक पर रहा प्रभाव दर्शाता है। श्लोक सात के द्वारा यह बताया कि परमात्मा से लोक आलोकित होता है। श्लोक आठ और नौ के द्वारा बताया परमात्मा से लोक प्रभावित होता है और यहाँ बता रहे हैं परमात्मा से लोक सुशोभित होता है। परमात्मा के आलोक से हमारा पापान्धकार हटता है। परमात्मा के प्रभाव से हमारे वीतरागभाव का अभाव हटता है और परमात्मा-सुशोभन से हमारी अनादिकालीन कर्मजन्य अशोभनीयता हटती है। जब मिथ्याभाव का अभाव और समभाव का आविर्भाव होता है तब ही भक्त परमात्मा के आलोक, प्रभाव और सुशोभन का अनुभव करता है।

दूसरा सम्बोधन है—हे भूतनाथ! भूत का मतलब है जीव। जो अपने आप में सभूत है, जिसका कभी निर्माण नहीं हुआ है और जो भूत अतीत से, अनादिकाल से और सदा रहने वाला है। आचारांग सूत्र में कई जगह जीव के लिए “भूयाणं!” शब्द का प्रयोग हुआ है। भूतनाथ याने समस्त जीवराशि के नाथ। जिनके दिना सद अनाथ।

१ (क) आचारांग सुत्रसंग्रह १, अध्याय १, उद्देश ६, सु १२२

(ख) ' १ अध्याय ४ उद्देश २, सु ४७४

(ग) ' २ अध्याय ६ उद्देश ५ सु ६८३ ६८४

भुवि का मतलब होता है पृथ्वी। हम रहते हैं पृथ्वी पर और परमात्मा है सिद्धक्षेत्र में। सिद्ध कोई स्थान नहीं है सिद्ध स्थिति है। इस सिद्ध स्थिति को उपलब्ध करनेवाले जहाँ स्थिर हो गए वह क्षेत्र सिद्ध क्षेत्र है, जो इस पृथ्वी से सात राजुलोक दूर है। हमारी शक्ति नहीं कि इतने दूर रहे हुए स्वरूप को हम भीतर ला सके। सिद्धशिला में रहे हुए सिद्ध भगवन्त को हम प्रतिदिन “नमो सिद्धाण” कहकर नमस्कार करते हैं। क्या हमारे नमस्कार उन तक पहुँचते हैं? “अरिहते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि” कहकर हम सिद्ध की शरण स्वीकार करते हैं। कहाँ हैं वे सिद्ध जिनकी शरण को हम स्वीकार करते हैं? यहाँ से जो सात राजु दूर हैं। जो न कभी हमें प्रत्यक्ष होते हैं। जिनसे न तो कभी मिलन होता है। जिनके साथ न कोई वार्तालाप होता है, न कोई सगोष्ठी होती है, लेकिन फिर भी हम हमेशा कहते चले जा रहे हैं कि सिद्ध की शरण मैं स्वीकार करता हूँ। भुवि शब्द रखकर आचार्यश्री आत्मा का और परमात्मा का बाह्य Difference बता रहे हैं, लेकिन आगे चलकर ये बाह्य Difference की छोरो को तोड़ रहे हैं।

भेद-रेखाओं को तोड़ने के लिए महत्वपूर्ण शब्द है “भवत तुल्या भवन्ति”। इसमें “भवत तुल्या भवन्ति” का मतलब है आपके ही तुल्य-समान (प्रभुता को) प्राप्त करते हैं। इसमें बहुत बड़ी बात कह दी। आत्मा के चरम विकास का अभियान इस पंक्ति में निहित है। स्वरूप के मिलन या दर्शन की ओर प्रयत्नशील साधक को उसी की उपलब्धि की आनन्दमयी अनुभूति एक बहुत बड़ी सफलता है।

मैं पहले ही कह चुकी हूँ कि महावीर ने कहा—यहाँ किसी की Monopoly (एकाधिकार) नहीं है। यह स्थिति सर्वाधिकार की स्थिति है। इसे कोई भी उपलब्ध कर सकता है। आगम में इस स्थिति के २० कारण बताये हैं।

अरिहत-सिद्ध-पवयण-गुरु-धेर-वहुस्सुए-तवस्सीसु।

वच्छलयाय तेसि, अभिक्ख-णाणोवओगे य॥ १ ॥

दसण-विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारे।

खणलव-त्तवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य॥ २ ॥

अपुव्वनाणगहणे, सुयभत्ती पवयणे पमावणया।

एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्त लहइ जीवो ॥ ३ ॥

१ अरिहत।

२ सिद्ध।

३ प्रवचन-श्रुतज्ञान।

४ गुरु-धर्म-नदेशक/आचार्य।

५ मर्यादित अर्थान्तर मातृ दय की उपलब्धि जातिमर्यादित, समवायागादि के ज्ञाना श्रुत-मर्यादित और दीप्त दय की दीक्षा याने पर्याय-मर्यादित, यह तीन प्रकार के मर्यादित मातृ।

- ६ बहुश्रुत—दूसरों की अपेक्षा अधिक श्रुत के ज्ञाता/उपाध्याय।
- ७ तपस्वी—उत्कृष्ट तप करने वाले मुनि।
इन सातों के प्रति वत्सलता धारण करना अर्थात् इनका यथोचित सत्कार-सम्मान करना, गुणोत्कीर्तन करना।
- ८ बारबार ज्ञान—अगादि श्रुतों का उपयोग करना।
- ९ दर्शन—सम्यक्त्व की विशुद्धता।
- १० ज्ञानाधिक का विनय करना।
- ११ छह आवश्यक करना अर्थात् चारित्र्यपद का आराधन।
- १२ उत्तरगुणो और मूलगुणो का निरतिचार पालन करना।
- १३ क्षणलव अर्थात् क्षण—एक लव प्रमाण काल में भी सवेग, भावना एवं ध्यान का सेवन करना।
- १४ तप करना।
- १५ त्याग करना अर्थात् दानादि धर्म का पालन करना।
- १६ नया-नया सूत्रार्थ का ज्ञान ग्रहण करना।
- १७ समाधि—गुरु आदि चतुर्विध सध को साता उपजाना।
- १८ वैयावृत्य करना।
- १९ श्रुत की भक्ति करना और
- २० प्रवचन/शासन की प्रभावना करना।

इसी को तत्त्वार्थ सूत्र में १६ कारणों में निहित कर दिया गया है।

“दर्शनविशुद्धिर्विनयसंपन्नता शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगसवेगी शक्तितत्त्वागतपसी सधसाधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुत-प्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थकृत्वम्य।”

—तत्त्वार्थसूत्र—अ ६, सू २३

- १ दर्शन विशुद्धि का अर्थ है दीप्तराग के कहे हुए तत्त्वों पर निर्मल और दृढ़ रचि।
- २ ज्ञानादि मोक्षमार्ग और उसके साधनों के प्रति योग्य रीति से दहनुान रखना विनयसंपन्नता है।
- ३ अहिंसा, सत्यादि मूलगुण रूप व्रत हैं और इन व्रतों के पालन में उपयोगी ऐंमें जो अभिग्रह आदि दूसरे नियम हैं वे शील हैं, इन दोनों के पालन में कुछ भी प्रमाद न करना यही शीलव्रतानतिचार है।
- ४ तत्त्वविषयक ज्ञान में सदा जागरित रहन—यह अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग है।

१८ भक्तामर स्तोत्र एक दिव्य दृष्टि

- ५ सासारिक भोग जो वास्तव में सुख के बदले दुःख के ही साधन बनते हैं, उनसे डरते रहना अर्थात् कभी भी लालच में न पड़ना, अभीक्ष्ण सवेग है।
- ६ थोड़ी भी शक्ति को बिना छिपाये आहारदान, अभयदान, ज्ञानदान आदि दानों को विवेकपूर्ण देना, यथाशक्ति त्याग है।
- ७ कुछ भी शक्ति छिपाए बिना विवेकपूर्वक हर तरह की सहनशीलता का अभ्यास करना—यह यथाशक्ति तप है।
- ८ चतुर्विध सघ और विशेषकर साधुओं को समाधि पहुँचाना अर्थात् वैसा करना जिससे कि वे स्वस्थ रहें—सघसाधुसमाधिकरण है।
- ९ कोई भी गुणी यदि कठिनाई में आ पड़े, उस समय योग्य रीति से उसकी कठिनाई को दूर करने का प्रयत्न ही वैयावृत्यकरण है।
- १० अरिहत भक्ति।
- ११ आचार्य भक्ति।
- १२ बहुश्रुतभक्ति।
- १३ प्रवचन भक्ति।
- १४ सामायिक आदि षड् आवश्यकों के अनुष्ठान को भाव से न छोड़ना—आवश्यकपरिहाणि है।
- १५ अभिमान छोड़कर ज्ञानादि मोक्ष मार्ग को जीवन में उतारना तथा दूसरों को उसका उपदेश देकर प्रभाव बढ़ाना—मोक्षमार्ग-प्रभावना है।
- १६ जैसे बछड़े पर गाय स्नेह रखती है, वैसे ही साधर्मियों पर निष्काम स्नेह रखना—प्रवचनवात्सल्य कहलाता है।

इस प्रकार परमात्म स्वरूप हम पा सकते हैं अर्थात् हम स्वयं परमात्मा हो सकते हैं। न कारणों में से प्रथम और द्वितीय कारण को भक्तामर स्तोत्र में और विशेषरूप से इस श्लोक में महत्व देते हुए कहा है—“भूतै गुणै भवन्तम् अभिष्टुवन्त”। इन शब्दों की गणना इस तरह से होती है। भूत शब्द का अर्थ होता है विद्यमान। यह गुण शब्द का विशेषण होता है। भवन्तम् अर्थात् आपकी। अभिष्टुवन्त का अर्थ है स्तुति करनेवाला। इस में विद्यमान गुणों से तेरी स्तुति करने वाला तुझ समान हो जाता है।

भूत शब्द का आगम देशीय प्रज्ञापित अर्थ है जीव। जीव स्वयं के गुणों से तुम्हारा अभिष्टुवान बन जाता है। अभिष्टुवान शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ ष्टु धातु को अभि” उपसर्ग लगकर यह शब्द बना अभिष्टु। इसमें वान् प्रत्यय लगने पर अभिष्टुवान् ब्र बना, जिसका बहुवचन होता है—अभिष्टुवन्त । सदा तेरे समीप रहकर तेरी स्तुति (वात्सल्य) करने वाला तुझ स्वरूप को प्राप्त करले तो इसमें न अति अद्भुत न कोई बड़ा आश्चर्य है। क्योंकि, आत्मा का वास्तविक स्वरूप परमात्म-स्वरूप है। यह आत्मा की

अपनी सहज स्थिति है। परमात्मा के प्रति की जानेवाली स्तुति, भक्ति या वात्सल्य आत्मा को परस्वरूप वैभाविक स्थिति से मुक्त कर निज-सहज आनन्दमय स्थिति का प्रथम बोध कराती है और अन्त में आत्मा तत्त्वरूपमय हो जाती है।

अतः यह कोई विशेष आश्चर्य नहीं। फिर भी यदि सामान्य अवोध इसे आश्चर्य माने भी तो इससे बड़ा ससार का कोई आश्चर्य भी नहीं है कि जिनकी हम भक्ति करते हैं, जिनको हम नमस्कार करते हैं वह हम ही हैं। हम से वह अलग नहीं है और हम उससे अलग नहीं हैं।

इस श्लोक में भकार शब्द की अभिव्यजना बड़ी रोचक और रहस्यभरी है। इसमें कुल ११ “भ” का प्रयोग हुआ है। जो स्तोत्र के विशेष सम्बन्ध से सन्दर्भित है। भकार की रहस्य भरी कड़ी इस प्रकार है—

- १ भक्त — भक्तामर स्तोत्र का प्रारम्भ,
- २ भगवान — भक्त जिससे सम्बन्ध बाधता है,
- ३ भक्ति — भक्त और भगवान को जोड़नेवाली,
- ४ भन्ते। — भगवान से जुड़ जाने पर भक्त द्वारा भगवान को किया जानेवाला सबोधन है। जिसका अर्थ सर्व भवों का या भवों का अंत करनेवाले भगवान्।
- ५ भाव-प्रभाव — भाव भक्त के हों तो प्रभाव भगवान का हो सकता है।
- ६ भेद-विज्ञान — एक ऐसा ज्ञान जिसमें देह और आत्मा की भिन्नता की अनुभूति प्रकट होती है। भक्तामर स्तोत्र में इसे मिट्ट करने की क्षमता है।
- ७ भाषाचरिम — स्तोत्र की सम्पूर्ण सार्थकता है। जिसके बाद कुछ कहने को बाकी नहीं रहता।
- ८ भाव चरिम — हमारे भावों का अर्थ स्वीकार करनेवाले ऐसे आराध्य। जिसके बाद हम अपने भावों की अजलि का कहीं अभिप्रेत नहीं करते हैं, या ऐसा कहो जिसके बाद दूसरा आराध्य अद हो नहीं सकता है।
- ९ भूतनाथ — इस शब्द के द्वारा हम से अतिरिक्त अन्य जीव सृष्टि के साथ भी परमात्मा का सम्बन्ध स्थापित होता है।
- १० भद्र — भक्ति करने पर भक्त की प्रकृति भद्र याने सरल होती है। भद्र याने कुशल रहना है।
- ११ भुज्जो-भुज्जो — इसका अर्थ है दागदार। ऐसे परमात्मा के भवान् में मिलने के लिए प्रयुक्त शास्त्रीय शब्द।

६० भक्तामर स्तोत्र एक दिव्य दृष्टि

आत्मा-परमात्मा की अभेद स्थिति की उपलब्धि का क्रम आगे के श्लोको से सयोजित होगा। जो हमारा अपना निज स्वरूप है फिर भी हमसे अगम्य है। हम उससे अनभिज्ञ या अनजान हैं, आइये। हम श्लोक ११ के द्वारा उस स्वरूप के “दर्शन” करेंगे। अनजान को जानेगे और अनभिज्ञ को पाएंगे।



१०. दर्शन

अनुभूतिधाग की अखड श्रेणी मे प्रवेश पाने पर परमानन्द अवस्था का अनुभव होता है। परमात्मा के साथ के अभेद वधन ने देह के वधन का भेद प्रकट किया। ससार के सर्व वधनो की प्रियता टूट चुकी। परम आनन्द के दर्शन हुए। इस दर्शन में प्रसन्नता मूलक सारी अनुभूतियाँ जो आज तक अनछुयी थी वह एक रूप हो गईं, प्रकट हो गईं।

जजीरो से जकड़ी हुई सम्पूर्ण दैहिक अवस्थाओं से सर्वथा पर होकर परमात्मा के दर्शन में लीन आचार्यश्री को जो उपलब्धि हो रही थी उसे पाने के लिए हमें आचार्यश्री के साथ मानसिक अभेद करना होगा और उसके द्वारा हम हमारे भीतर रहे हुए उस अद्भुत परमात्म स्वरूप के दर्शन करेंगे। इस दर्शन से आचार्यश्री की धारा प्रवाह निरन्तरता हमें उस प्रवाह मे दहायेगी जहाँ आचार्यश्री की अपूर्व वाचा प्रकट हुई—

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीय,

नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षु ।

पीत्वा पय शशिकरघुतिदुग्धसिन्धो ,

क्षार जल जलनिधे रसितु क इच्छेत् ? ॥११॥

अनिमेषविलोकनीयम् — दिना पलक झुकाए हुए देखने योग्य अर्थात् टकटकी लगाकर दर्शन, कर्मे योग्य (ऐसे)

भवन्तम् — आपको

दृष्ट्वा — देख करके

जनस्य — मनुष्य का

चक्षु — नेत्र

अन्यत्र — और कही पर

तोषम् — सन्तोष को, परितोष को

न — नहीं

उपयाति — प्राप्त करता है, पाता है

दुग्धसिन्धो — क्षीर सागर के

शशिकरघुति — चन्द्रमा की किरण के समान क्रांतिवाली शुभ्र

पय — जल, क्षीर, दुग्ध के

पीत्वा	— पीकर
क	— कौन (पुरुष)
जलनिधे	— (लवण) समुद्र के
क्षारम्	— खारे
जलम्	— पानी को
रसितुम्	— चखने के लिए
इच्छेत्	— इच्छा करेगा

अनिमेषविलोकनीयम् शब्द बड़ा Romantic (प्रेमास्पद) है। निमेष अर्थात् आँख की पलके। अनिमेष अर्थात् पलक झपके बिना। विलोकनीय अर्थात् दर्शनीय, देखने योग्य। यहाँ एक ऐसे व्यक्तित्व से हमारा सम्बन्ध स्थापित किया जाता है जिनको पहले शायद कभी नहीं देखा। और अब जब कभी देख लिया तो फिर पलक झपकी ही नहीं जाती है। कितना रहस्य भरा है। ऐसे तो भारतीय संस्कृति की प्रत्येक प्रेम गाथाएँ इन शब्दों को बड़ी भावुकता के साथ चरितार्थ करती हैं। प्रेम की सफल अभिव्यक्ति की चरम-सीमा इन्हीं शब्दों में प्रदर्शित होती है। दिखने वाला और देखने वाला दोनों के प्रत्यक्षीकरण की वास्तविकता को यह प्रकट करता है। समस्त सासारिक प्रेम सम्बन्धों से ऊपर उठे हुए प्रत्येक भक्त कवि ने इस महत्व को उद्घोषित किया है। जैसे एक जगह कबीर कहते हैं—

“नैनन की करी कोठरि, पुतलि पलग बिछाय।

पलकन की चिक डारि के, पिय को लिया रिझाय ॥”

भक्ति की यह चरम सीमा हमारे इस निज एकान्त साधना में एक कोलाहल उत्पन्न करती है कि हम ही जिनको अनिमेष पलकों से देखते रहे, वे क्या करते हैं? जो दिखते हैं वे देखते हैं या नहीं? उनके अनन्त-आत्मदर्शन में हम कहाँ छिपे हैं? दर्शनावरणीय कर्म में छिपा हमारा निज स्वरूप हम में ये प्रश्न उठाता है कि—

१ हम उनको देखे या वे हमें देखे ?

२ हम उनके दर्शन करें या उनके अनन्त दर्शन में हम समाहित हो जाय, जिसमें हमारी अनन्त अपूर्व अनुभूति प्रकट हो जाय ?

प्रस्तुत श्लोक भेद का अभेद कराता है। भेद में प्रश्न होता है, अभेद होने पर यह सारा भेद मिट जाता है। परम और हम भिन्न नहीं अभिन्न हैं। परमात्मा से विभक्त हैं तब तक भिन्न है। भक्त हो जाने पर अभिन्न हैं।

भक्ति की प्रारम्भिकता में (अभेद से पूर्व) दोनों का एक दूसरे को देखना भी प्रिय-दर्शन है। एक भक्त ने दर्शन की इस विशिष्ट शैली को प्रस्तुत करते हुए बड़ा रोचक उदाहरण प्रस्तुत किया है। एक बार कुछ यात्री किसी विशिष्ट महापुरुष के दर्शन हेतु यात्रा की योजना बना रहे थे। यात्रियों के नामों का लेखन हो रहा था। एक अन्धा भी अपना नाम

लिखाने आया। कुछ तथ्याकथित भक्तों ने उसका मजाक किया— “सूरदास! तुम्हें दिखता तो नहीं है, तुम क्यों चल रहे हो?”

प्रश्न को सुनकर उम अन्धे ने बड़ा मधुर और दार्शनिक उत्तर प्रस्तुत किया। उसने कहा—

“मित्र! मैं उन्हें देखूँ या न देखूँ पर वे तो मुझे देखेंगे न।”

महापुरुष और अन्य पुरुष में यही तो अन्तर है। अन्य पुरुष हमारे देखने पर भी देखा-अनदेखा करते हैं। परम पुरुष या महापुरुष वही है, हम उन्हें देखे या न देखे वे हमें अवश्य देखते हैं। वे अपनी अनन्त कृपादृष्टि से हमें सींचते हैं। उनका हमारी ओर देखना ही वास्तविक दर्शन है। मैं इसी दर्शन के लिए तुम्हारे साथ संयुक्त हो रहा हूँ।

गुजरात के एक भक्त कवि ने दर्शन की विशिष्ट परिकल्पना प्रस्तुत की है कि—

एक बार एक भक्त महापुरुष से दर्शन देने की प्रार्थना कर रहा था—

“आखनी सामे आख तो माड़ो।

अमृत नी रसधार झरे छे,

आवो-आवो पासे आवो।

तमने जोई आख ठरे छे।”

भक्त की अत्यन्त मनुहार स्वीकार करते हुए परम स्वरूप वहाँ प्रकट होते हैं। दर्शन करने के लिए आया हुआ भक्त उन्हें देखकर आँखें बंद कर देता है। आप कैसे दर्शन करते हो, आँख बन्द कर या खोलकर? अक्सर दर्शन करते समय हम अपनी आँखों को बन्द कर लेते हैं। ऐसा क्यों होता है? आचार्यश्री जिन्हें ‘अनिमेष विलोकनीय’ कहते हैं उन्हें देखकर हम आँखें क्यों बन्द कर लेते हैं, कभी नहीं सोचा क्या आपने?

परम स्वरूप के इस प्रश्न का भक्त के द्वारा दिया उत्तर प्रत्येक भक्त का उत्तर है। उसने कहा—

भन्ते! तेरी अनन्त आत्मिक अनुभूति के दर्शन कर इन चर्मचक्षुओं से तेरी अनन्त-दिभूति को झेलकर मैं इसे अनन्त, आत्म-प्रदेशों में सम्पूर्णतः आत्मसात् कर लेता हूँ। दर्शन में आपका रूप और आपका वास्तव्य इन दो विशिष्ट शक्तियों का परिचय होता है। मेरी आँखें बंद होने का मतलब यह नहीं कि मैं आपका रूप-स्वरूप झेल नहीं सका। परन्तु हे परम स्वरूप! आपका वास्तव्य इतना अधिक है जिसे मैं अपने में समा नहीं सका। अतः सहज ही मेरी आँखें बंद हो गईं।

कवि ने कहा है कि—

‘एत न सन्ने के तमर रूप शिरदायु नहीं,

एत तमर हेत मारी आखन समायु नहीं।

तमने जोया पछीथी आ दशा कायम रही,
कोई पण वातावरणमा मारु मन परोवायु नही ॥”

योगिराज आनन्दघनजी ने चर्म-नयन और दिव्यनयन (आत्मचक्षु) का भेद प्रस्तुत कर दर्शन (मार्ग) की महिमा बतायी है—

चरम नयन करी मारग जोवता,
भूल्यो सकल ससार रे,
जे नयणे करी मारग जोइए,
नयन ते दिव्य विचार रे

चर्म चक्षुओ से देखना, देखना है और दिव्य नयनो से देखना दर्शन है।

जिसने परमात्मा को नहीं देखा उसने कुछ नहीं देखा,
जिसने परमात्मा के दर्शन किये उसने कुछ देखा और,
जिसने परमात्मा को आँखो मे समाया उसने सब कुछ देखा।

उसके लिए अब ससार मे कुछ भी दर्शनीय नहीं है। यहाँ सारी तुलनाये मिट जाती हैं। सारी उपमाएँ भी समाप्त हो जाती हैं। वह अतुलनीय, अनुपम और अपूर्व आत्मसात् हो जाता है।

एक जगह आनन्दघन जी ने यह भी कहा है—

“सामान्ये करी दरिसण दोहिलु निर्णय सकल विशेष
मद मे घेर्यो रे अधो केम करे, रवि शशि रूप विलेख”

सामान्य बुद्धि से आपके दर्शन कैसे हो सकते हैं क्योंकि कोई व्यक्ति अधा हो और उसे मदिरा पिलाकर सूर्य चन्द्र का वर्णन करने के लिए कहने पर क्या हो सकता है? इसी प्रकार ज्ञानावरणीय से आवृत व्यक्ति यदि मोहमदिरा पी ले और उसे आपका वर्णन करने का कहा जाय तो क्या हो सकता है?

ससार मे हम जब किसी भी सुन्दर व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ को देखते हैं तब उससे पूर्व देखे हुए व्यक्ति, वस्तु या पदार्थ से उसकी तुलना करते हैं। इससे यह अच्छा या बुरा है, अधिक या कम है। सामान्यतः तर और तम के विभाग बनते जाते हैं और हमारी अनादिकालीन वासनाये बदलती स्थिति या परिवर्तित विविधता में अपनत्व स्थापित करती हैं। परिणामतः प्रेम के दर्शन के पात्र और पदार्थ परिस्थिति के साथ बदलते जाते हैं।

हम कभी तो सुन्दरता कपड़ो मे देखते हैं तो कभी Make-up में, कभी कमरो के Furnitures मे तो कभी सुन्दर भोजन मे देखते रहते हैं। परन्तु, हमने कभी भावो की सुन्दरता नहीं देखी। जिसे देखने के बाद कुछ दर्शनीय नहीं रहता है।

आचार्यश्री इन सब भक्त कवियों से भी ऊपर उठकर, इन शब्दों का प्रयोग कर हमें अनन्त निज स्वरूप की ओर मन्दर्भित करते हैं। सम्पूर्ण विश्वास Guarantee के साथ वे हमारी गमस्त चेतना को अपने परम प्रिय परमात्मा के निर्मल प्रेम से ऊर्जान्वित करते हैं।

फलको मे आचार्यश्री का आशय कोरी क्रियात्मक सवेदनाओं की अतृप्ति नहीं परंतु सम्पूर्ण भावात्मक संयोजना का चिर सतोष है।

अनिमेष नयनों में देखते रहना, हमारे जीवन में कई बार गुजरा होता है लेकिन वह अतृप्ति और असतोष की अमिटता है। यहाँ परम तृप्ति और पूर्ण सतोष की सत्यान्वितता है। और, इसीलिए आगे कहा है “भवन्तम् दृष्ट्वा जनस्य चक्षु अन्यत्र तोष न उपयाति।” अन्यत्र मे क्या अर्थ है ? कई बार हम अपने साप्ताहिक विधानों से इसका अर्थ लगाते हैं, अब दूसरी जगह देखने योग्य नहीं है। दूसरा क्या है ? पराया क्या है ? किस Illusion (भ्रम) ने हमें धरे रखा है जिसे अब हमसे नहीं देखा जाता है। आचार्यश्री ने इस पंक्ति में गूढ़ रहस्य भर दिया है। वे कहते हैं जिन्हें तू अनिमेष देख रहा है वह दूसरा कोई नहीं तू स्वयं है। परम ज्योतिर्मय अनन्त ज्ञानदर्शन स्वरूप है। आनन्द से भरपूर अप्रतिम है। आचाराग मे कहा है—

“जे अण्णदसी से अण्णारामे

जे अण्णारामे से अण्णदसी।”

जिस अनन्य (आत्मा) के तू दर्शन कर रहा है उसी अनन्य (आत्मा) में तू रमण करता है (प्रम र रहता है) और जिस अनन्य (आत्मा) मे तू प्रसन्न रहता है उसी अनन्य (आत्मा) के तू दर्शन कर रहा है। अर्थात् जिसे देख रहा है वह तू स्वयं है।

अतः तारे अतिरिक्त जो भी कुछ है वह सर्व अन्यत्र है, अविलोकनीय है, अदर्शनीय है। इसे अभी तक नहीं देख सकने के कारण ससार में अतृप्तिमय अनेक दर्शन करते रहे। प्रतिफल ऐम पात्र परिवर्तित होते रहे। अनन्त ब्रह्मविद इस धाँखे में सदा पर्दे के पीछे छिपा रहा। सदा रहस्यमय रहा। हमने बड़ा धोखा ससार में और क्या हो सकता है ? हम स्वयं अपने से ही छाने चले जा रहे थे।

हे परमात्मा! आज तुम्हें देखकर ये सारे रहस्य खुल गये। जो अव्यक्त या व्यक्त हो गया। जो अज्ञान के गर्भ में छिपा या प्रकट हो गया। जो अतृप्त या सतुष्ट हो गया। अब सारा ज्ञान है जो अन्यत्र दखेगा ? अन्य से प्रेम करेगा ? चन्द्रमा की शुभ्र किरणों की चमक के समान क्षीर समुद्र का मधुर जल पी छुड़ने के पश्चात् लवण समुद्र के खारे पानी

११. निर्माण

कारागृह के दरवाजे के पास सभा खचाखच भरी हुई है। सभी को कौतूहल है, सभी को आश्चर्य है। परन्तु, विश्वाम या महाकवि को। उनका मानना था कि परम की कृपा, भक्त की अस्मिता का सौन्दर्य है। अस्मिता का सौन्दर्य किसी व्यक्ति का सौन्दर्य नहीं है। अस्मिता की आवाज किसी व्यक्ति की आवाज नहीं है। अस्मिता का ज्ञान किसी व्यक्ति का ज्ञान नहीं है। अस्मिता का आनन्द किसी व्यक्ति का आनन्द नहीं है। इस आनन्द की चरम सीमा ही भक्ति है।

कैदखाना परमात्मा का मिलन-स्थान है, मानतुगाचार्य की आत्मा परमात्मा के मिलन का गतिर है, आचार्यश्री का हृदय परमात्मा के विराजने का सिंहासन है, निर्मित होता हुआ स्तोत्र परमात्म-मिलन का मंत्र है।

दृष्टी देखियों में प्रलकती विजय आचार्यश्री के सत्त्व की विजय है, आचार्य के परमात्मा की विजय है और आचार्य के परमात्मा के शासन एवं धर्म की विजय है।

परमात्मा के शुभ दर्शनों में आचार्यश्री का ध्यान परमात्मा की पवित्रमयी देहदृष्टि पर गर्व। उन पुरीत पावन पृथ्वी परमाणुओं पर गर्व जो पुद्गलात्मक तो थे फिर भी परम औदार्यक होने से अत्यन्त पवित्र थे। इस देह का ऐसा अद्भुत यह निर्माण था कि जो अद्वितीय, अतुल्य और अतुलनीय था। इसी देह में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द स्वरूप वीतराग की परम आत्मा विराज रही थी। इस देह-निर्माण का ऐसा व्याख्या है जो इस अनेक औदार्यक शरीरधारियों को प्राप्त न हो सका ?

आपके चेतना-मात्र में भी यदि यह प्रश्न उभरता हो तो चलिए अब आचार्यश्री से राख्य का उद्घाटन करते-
 ये शान्तरागस्वविभि परमाणुभिस्त्व,
 निर्मापितस्त्रिभुवनेक - ललामभूत्।
 तावन्त एव खलु तेऽप्यणव पृथिव्या,
 यत्ते समानमपर न हि न्यमस्ति ॥१२॥

त्रिभुवनैश्च ललामभूत्। - हे तीन लोक के अनुक्रम अलग-अलग रूप।
 (परमात्मा)

ये शान्तरागस्वविभि परमाणुभिः - शास्त्र (लक्षण) हे गर्व है कि जो कि इति निर्माण
 ऐसे परमाणुओं से

जो ममत्व में मे मति का त्याग करता है वह ममत्व का त्याग करता है। परमात्मा इस कथन का सफल धरितार्थ प्रस्तुत करते हैं। राग की रुचियों में जो शान्त हो जाता है या होगा वह कि राग की रुचि जिनकी समाप्त हो जाती है, वे ही तो परमात्मा हैं।

आचार्यश्री यहाँ एक दिशिष्टता और विलक्षणता भी प्रस्तुत करते हैं। वे मात्र राग और उमकी रुचि को समाप्त करने की दात पर ही नहीं रुकते परन्तु इसे साधना में लाकर प्रयोग से सफल कर दिखाते हैं।

प्रत्येक आत्माओं की देह का निर्माण अपने-अपने कर्मों के अनुसार होता है। इस प्रकार पूर्वजन्म में संचित और निश्चित कर्मों के अनुसार जीव जन्म धारण करता है। सामान्य केवली और तीर्थकरों के केवलज्ञान में या वीतरागत्व में कोई अन्तर नहीं होता है, परन्तु तीर्थकर के ध्यवन, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण के पांच विशेष अवसर कल्याणक माने जाते हैं। ये आत्माएं परमात्म भव के पूर्व तीसरे जन्म में ही "सवि जीव कम् शामनरसी" की भावना से जगत के सकल जीवों के मोक्ष हो जाने की भावना और पूर्वकथित २० विशेष कारणों की आराधना कर तीर्थकर नामकर्म का निकाचन करते हैं इस तीर्थकर नामकर्म के उदय से वे अनुपम देहराशि और उत्कृष्ट दैवीय वैभव को प्राप्त करते हैं।

इस श्लोक की सर्वोपरिता यह है कि चेतन और पुद्गल का सामजस्य ही समार में जीवता है। जीवन का यह रहस्य अनादि अनन्त है। परम वीतराग प्रभु का जीवन भी इसी प्रकार चेतन-पुद्गल का मेल-जोल है फिर भी अन्य सर्व सामान्य प्राणियों से इनमें जो विशिष्टता है उसे यह गाथा स्पष्ट करती है। आत्मा के राग भाव या विराग भाव का असर देह-निर्माण के समय में देह पर होता है। तत्सम्बन्धी पुद्गल-परमाणुओं का कामिक चयन होता है वीतराग परमात्मा के राग की रुचि सर्वथा शान्त-समाप्त हुई रहती है अतः उनके देह निर्माण में नियोजित परमाणु भी वैसे ही होते हैं। यही कारण है कि वीतरागता आत्मा सम्बन्धी तत्त्व होने पर भी दैहिक आभा भी इसे प्रकट करने में अक्ष्णी नहीं रहती है।

आचार्यश्री इस अद्भुत रहस्य को प्रकट कर आगे कहते हैं कि वे परमाणु ही सृष्टि में उतने थे जिनसे आपका निर्माण हो गया तो अब दूसरा ऐसा अद्भुत न तो निर्मित होता है, न तो दक्षित होता है।

वीतरागत्व के कारण वीतरागी का अनुपम सौन्दर्य कितना आकर्षक है इसे एक भक्त कवि ने अपने शब्दों में कहा है—

तु सुन्दर है पर तु न कभी देता प्रति उत्तर मनना का

तेरी निष्ठुर सुन्दरता से मेरे अरमान कभी सुन्दर

तेरी मुस्कान कभी सुन्दर

तेरी पहचान कभी सुन्दर

क ज्योतिर्मय चक्षों का अगर हमारे सूक्ष्म मन पर और उसका असर जीवन पर होता है। वायुमृष्टि और आतमिक चेतना के बीच भी गहरा सम्बन्ध बना रहता है। आज का विज्ञान भी शुभ-अशुभ घड़ियों के गणित को मानता है। R C A Sound System के अनुसंधान विभाग के अनुसार शुभ घड़ी में Negative isotops और अशुभ घड़ी में Positive isotops बढ़ते हैं। Negative isotops मानव के मन में आनन्द, उत्साह और दिव्यशक्ति भरते हैं तथा Positive isotops मानव मन को निराशाजनक उत्तेजनाओं से भरते हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार हमारे मस्तिष्क में विभिन्न प्रकार की विद्युत तरंगें होती हैं—अल्फा, बेटा, गैटा, घेटा आदि आदि। जब हम में अल्फा तरंगें बढ़ती हैं तब हम आनन्द में भर जाते हैं। अगर मांरे अवसाद समाप्त हो जाते हैं, कठिनाई दूर हो जाती है, जब बेटा तरंगें बढ़ती हैं तब हम अवसाद में भर जाते हैं, हम में उत्तेजनाएँ उभरने लगती हैं।

हम प्रकार मस्तिष्कीय विद्युत-तरंगों के द्वारा आदमी कभी मुख का अनुभव करता है, और कभी दुःख का अनुभव करता है।

प्रश्न होता है कि हम आनन्द को उपलब्ध कैसे करें? अल्फा तरंगों का उत्पादन कैसे हो सकता है?

महापुरुषों के मस्तिष्क में निरंतर ये अल्फा तरंगें प्रवाहित होती रहती हैं परिणामतः वे स्वयं आनन्दित रहते हैं और उनके पास आने वाले का अवसाद भी आनन्द में परिवर्तित हो जाता है।

महापुरुष कया का उत्सर्ग कर देते हैं। उस समय ध्यान देह पर्याय से सम्पूर्णतः हट जाता है। समस्त चेतना आनन्द से भर जाती है। उस समय वाणी शांत, श्वास शांत, मन शांत समुद्रा फलनत्र शांत हो जाता है। विश्राम की इस मधन स्थिति में मस्तिष्क में अल्फा तरंगों का संदर्भ होता है। ये तरंगें माधक को आनन्द विभोर कर देती हैं।

छोटे भी व्यक्ति जब महापुरुषों के निकट बैठता है तब उसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। महापुरुष क्या देते हैं उस समय? कुछ भी नहीं, फिर आनन्द की अनुभूति कैसे होती है? हमका गण और वैज्ञानिक संसंधान यह है कि जिस महापुरुष के मस्तिष्क में अल्फा तरंगों की मात्रा अधिक होती है उसके आसपास बैठनेवालों में, ये तरंगें संचरित होती हैं, flow होती हैं और वे आनन्द की अनुभूति कराती हैं। आज के वैज्ञानिक आधुनिक यन्त्रों की व्यवस्था जिस प्रकार कर रहे हैं, लगता है कि वैज्ञानिक जगत सफल है, आधुनिकता को उत्कृष्ट कर रहा है। Medical Institute of Technology, Madras एक ऐसे उपकरण का निर्माण किया है जिससे मनुष्य के मस्तिष्क की अल्फा तरंगें का देह से उत्पन्न हो और उन्हें संचरित की किया जाता है।

वैज्ञानिकों के अनुसार सूक्ष्म का सूक्ष्म पर और सूक्ष्म का सूक्ष्म पर अगर हुआ करता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्म अधिक दक्षता बना जाता है। जैसे-जैसे चक्कर बढ़े

भूमिका का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे स्थूल और सूक्ष्म के सम्बन्धों का ज्ञान जागृत होता है। इस ज्ञान से दोनों का समन्वय और दोनों का भेद स्पष्ट झलकने लगता है लेकिन Conscience activity के बिना यह संभव नहीं है। इसलिए कहा है—

Stand up, power will come, glory will come, purity will come and everything that is excellent will come when the sleeping soul is arisen to do conscience activity

चेतना का विकास साधना का अभियान है। वीतराग की अपेक्षा वीतरागत्व कही अधिक सुन्दर है परंतु बिना उस साधना के वीतरागत्व के दर्शन दुर्लभ हैं। अब हम देखें यह वीतरागत्व कितना Dynamic है। इसी बल पर वीतराग विश्व के आध्यात्मिक उत्थानचक्र को गतिमान रखते हैं। कट्टर शत्रु को भी अपनी गद्दी का आध्यात्मिक उत्तराधिकारी बनाते हैं। पतित को प्रेरणा देकर पावन करते हैं, थके हुए को गति देते हैं, सोये हुए को उठाते हैं, उठे हुए को चलाते हैं, चलते हुए को मंजिल पर पहुँचाते हैं।

इस प्रकार सुन्दर, प्रिय, नजाकत, राग की रुचियों से रहित, अत्यन्त पवित्र परमाणुओं से निर्मापित नयनहारि परमात्मा की देहपर्याय में विशिष्ट दर्शनीय परम आभावानु मुखाकृति के दर्शन कर उस मनोहारिता को दर्शाते हुए कहते हैं—

वक्त्रं क्व ते सुर – नरोरग – नेत्रहारि,
निःशेष– निर्जित– जगत्त्रितयोपमानम्।
बिम्बं कलंक– मलिनं क्व निशाकरस्य,
यद्वासरे भवति पाण्डुपलाशकल्पम् ॥१३॥

सुरनरोरगनेत्रहारि	– देव, मनुष्य और भवनवासी नागकुमार जाति के देवेन्द्र (धरणेन्द्र) आदि के नेत्रों को हरण करनेवाला
निःशेषनिर्जितजगत्त्रितयोपमानम्	– सम्पूर्ण रूप से तीनों लोकों के उपमानों को जीतने वाला अर्थात् उपमा रहित।
ते	– तुम्हारा
वक्त्रम्	– मुख, आनन
क्व	– कहाँ ? (और)
कलंकमलिनम्	– काले-काले धब्बों से मलिन।
निशाकरस्य	– चन्द्रमा का
बिम्ब	– मण्डल, बिम्ब
क्व	– कहाँ,

यत्	- जो (दिम्ब)
वायवे	- दिन में
पाण्डुपनाशकल्पम्	- जीर्ण-शीर्ण हुए टेसू (ढाक) के पत्र के समान पीका,
भवति	- होता है।

यह गाथा परमात्मा की अनुपम विलक्षणता का अपूर्व उदाहरण है। विभिन्न उपमानों से परमात्मा को उपमित कर आनंदित होते हुए आचार्यश्री परमात्मा का मुख दर्शन कर अन्य कवियों की भौति इसे चन्द्र से उपमित करते हुए अचानक अटक गये। विलोकनीय परमात्मा की कमनीय काया की आकर्षक, मनभावन मनोहारिता ने मुग्ध हो गये। मीम्य, शीतल, शक्तिप्रेरक और आह्लादक वदन की आभा से प्रभावित हो गये।

उपमा के अनुगमन में पाये गये व्योमविगारी सकलक विधु के आखों के सामने आते ही दिन में निम्तेज एव फीके पड़े हुए विवर्ण दने हुए पलाम के पत्रवत् दिम्ब की ओर जाता है। और, पुन मदा सुधावर्षी, समुज्ज्वल, सदैव शीतल, निर्मल, सर्वदा हितकारी, सर्वोत्तम प्रकाशक, धगतलविहारी, निष्कलक, ओजस्वी आत्मविधु के मुखचन्द्र के दर्शन होते हैं। यहा उपमान के ऊपर उपमेय का बताकर उन्हें श्रष्ट सिद्ध कर रहे हैं।

अतुलनीय की तुलना कैसे ? अनुपम को उपमा कौन सी ? परम दीतरागी चैतन्यधन जिसमें न तो कषाय की कालिमा है और न कर्मों का मालिन्य। ऐसे सर्वोत्तम परमात्मा के विशिष्ट वदन के दर्शन कर मूर्छित पर उसका प्रभाव देखने हेतु दृष्टिपान करते हैं तो देखते हैं उग्रालोक के देव-देवेन्द्रों, पृथ्वी-नाक के नर-नरेन्द्रों और अधोलोक के भयानक दैत्यों को परमात्मा के मुखदर्शन से प्रसन्न और प्रभावित होते पाते हैं। इन सबके तबलों के प्रदल आवरण परमात्मा है।

आचार्यश्री ने इन सबके लिए "नेत्रहारि" शब्द का उपयोग किया है। जा प्रेम-भक्ति की धर्मोत्कर्षता का प्रमाण है। नेत्र का हरण कैसे होता है। क्या आखा की चोरी होती है और हरण करने वाले परमात्मा हैं ?

ये सश्रितास्त्रिजगदीश्वर ! नाथमेक,
कस्तान् निवारयति सचरतो यथेष्टम् ॥१४॥

त्रिजगदीश्वर !	— तीन लोको के स्वामी !
सपूर्णमण्डलशशाङ्ककलाकलापशुभ्रा.	— पूर्णमासी के चन्द्र-मण्डल की कलाओ के सदृश समुज्ज्वल
तव गुणा	— आप के गुण
त्रिभुवनम्	— तीन लोको का
लङ्घयन्ति	— उल्लघन करते हैं अर्थात् त्रिभुवन मे व्याप्त हैं।
ये	— जो
एकम्	— एक अर्थात् अद्वितीय
नाथम्	— त्रिभुवन के स्वामी को
सश्रिता	— आश्रय करके रहने वाले
यथेष्टम्	— स्वेच्छानुसार अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार
सचरत	— सम्पूर्ण लोक मे विचरण करने से
तान्	— उनको
क	— कौन (पुरुष)
निवारयति	— निवारण कर सकता है अर्थात् रोक सकता है ? कोई भी नहीं।

यह कैसा आश्चर्य, १३वे श्लोक मे जिसको स्पष्टतः अस्वीकार कर रहे थे—उसका यहा सहर्ष स्वीकार हो रहा है ? सहज उभरते हुए इस आश्चर्य की यथार्थता यह है कि आचार्यश्री की इच्छा परमात्मा के मुख को चन्द्र के साथ उपमित करने की नहीं है, परंतु मुखदर्शन की इस विशिष्टता को वर्णित करने में अक्षम हो रहे हैं। बिना उपमा के इसे समझाना या दर्शाना दुरूह है और चन्द्रमा के अतिरिक्त दूसरा कोई उपमान ठीक नहीं बैठ रहा है अतः श्लोक १३ मे परमात्मा के गुणो के लिए सर्वकलाओं से विकसित एवं विलसित पूर्णमासी चन्द्र को उपमान के रूप में पसन्द करते हैं। परमात्मा के सर्वलोक में व्याप्तत्व के सिद्धान्त को गुणों के द्वारा सिद्ध करते हैं। अनंतगुण सम्पन्न परमात्मा के गुण यथेच्छ अप्रतिबध रूप से सपूर्ण लोक में व्याप्त हैं।

इस श्लोक में परमात्मा का सार्वभौमत्व प्रकट करने के साथ-साथ इसमें सम्बन्ध प्रेरणा भी व्यक्त की है। यह पद्य परमात्मा की शरण के सर्वोच्च स्वीकार की सफल

अभिव्यक्ति है। जगत के सर्व जीव स्वेच्छा से व्यवहार करना चाहते हैं, परंतु प्रत्येक जीव की इच्छा पूर्ण नहीं हो पाती है। कार्य-कारण की विशेष शृंखलाओं में आबद्ध आत्माएँ सर्वशक्तिसम्पन्न होने पर भी कर्मों से असमर्थ हैं। परंतु, फिर भी परमात्मा की शरण ग्रहण करनेवाला अप्रतिबध हो जाता है। उसे सृष्टि के कर्म-कषायादि कोई भी विरुद्ध तत्त्व प्रतिबधित नहीं कर पाते हैं। वे यथाशीघ्र अपने अन्तिम गन्तव्य मुक्तावस्था को उपलब्ध कर सकते हैं। इसे आचार्यश्री ने परमात्मा के गुणों से सिद्ध कर दिया। परमात्मा के गुणों ने परमात्मा की शरण ग्रहण की और फिर वे इस सृष्टि में विचरने के लिये निकले। इस समय उन्हें यथेच्छ विचरण करते हुए कौन रोक सकता है ?

ये एकं नाथ सश्रित-जिन्होंने आप एक का ही आश्रय लिया है।

ता यथेष्ट सचरत -उनको यथेच्छ विचरण करते हुए।

क निवारयति-कौन रोक सकता है ?

यह प्रश्न कर उन्होंने एक बहुत बड़ा समाधान प्रस्तुत किया कि परमात्मा के गुणों को कोई नहीं रोक सकता। अर्थात् वे इस सृष्टि में व्याप्त हैं। यथायोग्य भक्तात्मा इन गुणों को धारण करता है। तभी वह सच्चे अर्थ में परमात्मा की शरण ग्रहण करने में सफल हो सकता है।

दर्शन से वे ही सफल हैं जो परिवर्तन पाते हैं। कहा, कौन सा और कैसा परिवर्तन आवश्यक है और यह कैसे हो सकता है ? उसे हम ध्यान के माध्यम से “परिवर्तन” विषय का विश्लेषण करेंगे, और हमारे हृदय का भी परिवर्तन करेंगे।

१२. परिवर्तन

परिस्थितियों का परिवर्तन सृष्टि का क्रम है परन्तु हृदय का परिवर्तन सृष्टि का सामजस्य है। परिस्थितियों का परिवर्तन प्रकृति का न्याय है। परन्तु हृदय का परिवर्तन प्रकृति का प्रकट होना है, विभाव से स्वभाव में आना है। न्याय का चाहा-अनचाहा स्वीकार होता है परन्तु प्रकट चाह-अनचाह से ऊपर रहता है। विसंगतियों से परिपूर्ण इस जीवन में क्रम का विकास होता रहता है। सामजस्य सगति या विसंगति में समानरूप से रहता है।

यह हृदय परिवर्तन का मतलब वृत्ति और भावों का परिवर्तन है। वरना आजकल डाक्टर भी Surgery द्वारा Heart Change करते हैं। परन्तु यहाँ हमारी चेतना, भाव और वृत्तियों का परिवर्तन होता है। इस परिवर्तन से वास्तव में हृदय सजीव होता है, जीवत होता है, गतिवान होता है। यह पौद्गलिक या पार्थिव हृदय की बात नहीं है। परन्तु आत्मिक भावों के स्त्रावों का कथन है।

भक्ति वृत्ति परिवर्तन की शल्य चिकित्सा है। आचार्य श्री भक्तामर स्तोत्र द्वारा भक्ति का पथ प्रदान कर रहे हैं।

परमात्मा में एकरूप होकर उनके सहज स्वाभाविक निर्विकार स्वरूप के दर्शन पा रहे हैं। परमात्मा के तेजोमय स्वरूप में लीन उनके मुख से निकला—

चित्र किमत्र यदि ते त्रिदशाङ्गनाभि-
नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पान्त-काल-मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥१५॥

(भगवन्)	— (हे प्रभो)
यदि	— अगर
ते	— तुम्हारा
मन	— मन
त्रिदशाङ्गनाभि	— देवाङ्गनाओं के द्वारा अर्थात् देवलोक की अप्सराओं द्वारा
मनाक् अपि	— किंचित भी, थोड़ा भी

विकारमार्गम्	— बुरे भाव की ओर, विकार मार्ग की ओर अर्थात् वैभाविक परिणति की ओर
न नीतं	— खीचकर नहीं लाया गया
अत्र किम् चित्रम्	— तो इसमें आश्चर्य ही क्या है
कल्पान्तकाल	— प्रलयकाल/निर्विकल्प अवस्था
चलिताचलेन	— पर्वतों को चलायमान करनेवाला
मरुता	— पवन/दूषित वातावरण
कदाचित्	— कभी भी
चलितम्	— चलायमान हो सकता है ? (अर्थात् कभी नहीं)

हे महाप्रभु! कितना अद्भुत है आपका निर्विकार वीतराग स्वरूप। अकाट्य प्रबलतावाली वैषयिक अभिव्यक्तियाँ आपको विचलित नहीं कर पाती हैं क्योंकि आप विषयातीत हैं।

इस सृष्टि में ऐसे दो विरुद्ध तत्त्व हैं, जिनका कभी सामंजस्य नहीं हो पाता। युगो बीत गये परंतु ये लड़ते ही रहे हैं—एक रागभाव और दूसरा विरागभाव। रागी विरागी को विचलित करने के प्रयत्न करता है परन्तु जिसने आत्मा की सहज स्थिति का अनुभव कर लिया उसे रागी विचलित नहीं कर सकता है।

हमारे मन में एक प्रश्न हो सकता है, ऐसा क्या है जो वे विचलित नहीं हो सकते हैं ? इसका कारण आचार्यश्री ने इस श्लोक में अन्तिम पंक्तियों द्वारा प्रस्तुत किया है।

कल्पान्त-काल-मरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ?

प्रश्न चिन्ह के साथ उत्तर की विलक्षणता यहाँ झलकती है। पद चार में हमने कल्पांत काल के उद्धत पवन के विषय में सोचा था, वहाँ कल्प की विभिन्न व्याख्याएँ आ चुकी हैं। कल्प के अन्त काल में पवन उद्धत होता है। यहाँ लिखा है चलित होता है। उद्धत जो भी होगा, निश्चल नहीं रह सकता है, वह चलित होता है और इस चलायमान स्थिति में वह जिसका भी स्पर्श करता है उसे भी विचलित करता है। सृष्टि में ऐसा कौनसा तत्त्व है जो इस स्थिति में विचलित न हो। यहाँ असामान्य पवन से मेरुपर्वत के शिखर का विचलित न होने का कहा है। जिसका संकेत है कि विकल्पों के द्वारा मन को विचलित करनेवाले विकारी पुद्गल आपके निर्विकार स्वरूप को कैसे कपायमान कर सकते हैं ?

विस्तार से परमात्मा को मेरुपर्वत की उपमा से विभूषित किया है।^१

आगम में आत्म-प्रदेशो के ऐजन (कपन) के बारे में कहा है। बाह्य वातावरण का मानव के मन पर प्रभाव होता है तब द्रव्यमन भावमन को प्रभावित करता है। भावमन आत्म-प्रदेशो को कपित करता है और फिर कर्म का बन्धन होता है। इस प्रकार कषाय और योग के अनुबध से ही कर्म बन्धन होता है। वीतरागी परमात्मा पर बाह्य वातावरण का प्रभाव ही नहीं होता और न ही उनके आत्मप्रदेशो में कपन होता है, तो फिर विकारी भावों का उत्पन्न होना और विचलित होना संभव ही कैसे हो सकता है ?

अब दूसरा प्रश्न है, निर्विकारी परमात्मा के लिये तो इस बात को स्वीकार कर लेवे, परंतु इससे हमें क्या ? हम तो सतत विकारों से प्रभावित होते रहते हैं। आज विकारी वातावरण बढ़ता जा रहा है। प्रत्येक वातावरण एक बम्ब-विस्फोट की भांति हमें भीतर से छिन्न-भिन्न कर रहा है। प्रति समय हम में एक नयी सृष्टि की संरचना हो रही है। हमें ऐसे वीतराग का पूर्ण शुभत्व जानकर भी क्या लाभ ? यह प्रश्न ससार के समस्त रागियों का प्रश्न है और इसका उत्तर हमें भक्तामर स्तोत्र से पाना है। साथ में मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का भी निरीक्षण करना होगा, क्योंकि प्रत्येक विकारी भावों के कारण हमारी मानसिक अभिव्यक्तियाँ निहित हैं।

सामान्यतः हमारे भीतर दो प्रणालियाँ काम कर रही हैं। एक है रासायनिक प्रणाली और दूसरी है विद्युत्-नियंत्रण प्रणाली। ये दोनों प्रणालियाँ आदमी के आचार और व्यवहार का नियन्त्रण करती हैं। यदि रासायनिक प्रणाली को समझ लिया जाए तो जीवन का क्रम बदल सकता है। रासायनिक प्रणाली में अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ काम करती हैं। उनके स्राव रक्त में मिलते हैं और आदमी के व्यवहार और आचरण को प्रभावित करते हैं। इन स्रावों में ध्यान की विद्युत् नियंत्रण प्रणाली से परिवर्तन किया जा सकता है। उसके काम-क्रोधादि विकारों की उत्पत्ति के सूक्ष्म कारणों को हम नहीं जान सकते हैं, परन्तु इस स्थूल शरीर में इन विकारों की उत्पत्ति का कारण तो खोज सकते हैं। यह निश्चित है कि किसी अन्तःस्रावी ग्रन्थि का ऐसा स्राव रक्तगत हुआ है जिससे विकार उभरते हैं। परमात्मा के ध्यान के द्वारा अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव बदले जा सकते हैं और जब वे बदलते हैं तब आवेग समाप्त हो जाते हैं। रसायन बदलते हैं तो काम-क्रोधादि विकारों वाली आदतें भक्ति, सवेग आदि में बदल जाती हैं। अन्यथा आदत का बदलना असंभव है।

इसी प्रकार विद्युत्-नियंत्रण का परिवर्तन होता है। हमारे स्नायु सस्थान में पर्याप्त मात्रा में विद्युत् है। उसी विद्युत् के कारण हमारी सक्रियता बनी रहती है। उन विद्युत् के प्रकपनों को बदलने पर आदतें बदल जाती हैं।

परमात्मा के ध्यान का सबसे बड़ा प्रभाव है कि इससे हमारी विद्युत् प्रणाली में बहुत बड़ा परिवर्तन आ सकता है। उनके शान्त परमाणुओं का ध्यान करने से हमारे विद्युत् तन्त्र में उभरती अशुद्ध तरंगें शुद्धता में तरंगित हो जाती हैं।

इस बात को लेकर एक मनोवैज्ञानिक ने प्रयोग किया। उसने बिल्ली के मस्तिष्क को शान्त करने के लिए उसके सिर पर एक इलेक्ट्रोड लगाया और चूहे के मस्तिष्क को उत्तेजित करने के लिए उसके सिर पर भी इलेक्ट्रोड लगाया। उससे दोनों के मस्तिष्कीय विद्युत् में परिवर्तन घटित हुआ। फलस्वरूप बिल्ली चूहे के सामने शान्त खड़ी हो गई और चूहा उस पर झपटने लगा, आक्रमण करने लगा। कितनी उल्टी बात। इस प्रकार आक्रमण के केन्द्र को बदलकर उसमें उपशमन लाया जा सकता है और उपशमन के केन्द्र को बदलकर उसमें आक्रामकता लाई जा सकती है। वीतरागी का ध्यान करने से आक्रामकता उपशमन में परिणमित होकर परिवर्तित हो जाती है।

इसी प्रकार शेर और खरगोश पर भी प्रयोग किया गया। वृत्तियों की अपेक्षा से शेर खरगोश बन गया और खरगोश शेर बन गया। शेर पर खरगोश आक्रमण करने लगा।

ये कल्पित कहानियाँ नहीं, प्रयुक्त प्रयोग हैं। इनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि आदमी को बदला जा सकता है रासायनिक परिवर्तनों के द्वारा और विद्युत् प्रकरणों के परिवर्तनों के द्वारा। यह असंभव नहीं है। परमात्मा के ध्यान में परिवर्तन की महान शक्ति है।

इसी कारण आचार्यश्री इस तथ्य को नैसर्गिक परिवर्तन के एक महान सिद्धान्त को अगले श्लोक में प्रस्तुत कर रहे हैं।

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूर ,
कृत्स्न जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुता चलिताचलाना,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ। जगत्प्रकाश ॥१६॥

नाथ।	— हे स्वामिन्
त्वम्	— आप
निर्धूमवर्ति	— धुवा और वर्तिका (बाती) से रहित
अपवर्जिततैलपूर	— लबालब तेल से रहित
चलिताचलानाम्	— पहाड़ों को डावाडोल करनेवाली
मरुताम्	— हवाओं से
जातु	— कदाचित् कभी भी
न गम्य	— प्रभावित होने योग्य नहीं हो, अर्थात् प्रवेश पाने के योग्य नहीं हो
इदं	— इस
कृत्स्न	— समस्त
जगत्त्रयम्	— तीनों लोकों को

प्रकटीकरोषि	— प्रकट कर रहे हो, आलोकित कर रहे हो
जगत्प्रकाश	— (हे) विश्वभर को प्रकाशित करने वाले (आप)
अपर	— अपूर्व
दीप	— दीपक
असि	— हो

यहा पर “दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ। जगत्प्रकाश ” द्वारा परमात्मा को अपूर्व परम दीपक के रूप में संबोधित किया है। प्रथम तीन पंक्तियों में सामान्य दीपक के कुछ दुष्प्रभावित कारणों को प्रस्तुत कर परमात्मा को दीपक से अनुपम प्ररूपित किया, परंतु अंतिम पंक्ति में वृत्ति परिवर्तन करानेवाले इस महान तत्त्व को दीपक से बढ़कर कोई दूसरा उपमान न देखकर अपूर्व दीपक के रूप में प्रज्ञापित किया।

आप दीपक हो परन्तु दीपक से सम्बन्धित कारणों से रहित हो—इन कारणों में भी बड़ा रहस्य है—

१ निर्धूम—सामान्य दीपक प्रकाशित होता है पर उसमें निरंतर धुवाँ होता है। आप अपूर्व दीपक हो। आप में कोई धुँवा नहीं है क्योंकि धुवाँ कालिमा, धुधलापन, व्याकुलता और गरमी का प्रतीक है।

परम प्रभु तू घाति कर्म से सर्वथा रहित है। ये चारो कर्म ध्रुवे की भाँति हैं।

१ ज्ञानावरणीय कर्म—कालिमा का प्रतीक है, स्वयं ज्योतिर्मान ज्ञान स्वरूप आत्मा इस कर्म के प्रभाव से अधकारमय है। आप ज्ञानावरणीय कर्म से रहित हो अतः सदा ज्योतिर्मय हो।

२ दर्शनावरणीय कर्म—जो धुधलापन का प्रतीक है क्योंकि जीव की यथास्थिति रूप वास्तविक बोध में बाधक कारण है। आप इस कर्मावरण से सर्वथा रहित हो अतः अनन्तदर्शी हो।

३ मोहनीय कर्म—इसका मुख्य काम जीव को आकुल-व्याकुल कर देना है। अनन्त अव्याबाध आनंद स्वरूप आत्मा इसी कर्म से बेचैन होकर प्रबल भ्रांति में अनादिकाल व्यतीत करता है। आप वीतरागी हो अतः मोहनीय रजित राग-द्वेषादि से सर्वथा रहित हो।

४ अतराय कर्म—आत्मा इस कर्म के कारण उल्लास रहित होकर निःसत्त्व बन जाता है। अतः आप अनन्तवीर्य सम्पन्न हो।

२. वर्तिका (बाती) से रहित—मोह और मिथ्यात्वभाव रूप बाती से भी तू रहित है।

३ अपवर्जिततैलपूर —याने लबालब तेल से रहित। तैल चिकनापन का प्रतीक है। गोद और तैल दोनों चिकने पदार्थ गिने जाते हैं पर गोद का चिकनापन पानी से साफ हो जाता है, तैल का नहीं। इसीलिए स्नेह—रागभाव को तेल की उपमा दी गई है। परमात्मा तू परम वीतरागी है। अतः राग रूपी तैल से तू सर्वथा रहित है।

दीपक के ज्योतिर्मय भाव-स्पर्श से हमारा चैतन्य दीपक भी तत्त्वरूप ज्योतिर्मान हो सकता है। तब फिर हम में और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं हो सकता है। परिवर्तन का यह कितना महान् सिद्धान्त है। हम भी सर्वथा विकार रहित, कर्म-कषाय रहित हो सकते हैं। मात्र साधना-भक्ति द्वारा उनके महान् भाव-स्पर्श की आवश्यकता है। परम में सभी चरम को परम बनाने की महान् सिद्धि/शक्ति है। हम स्वयं परमात्म स्वरूप हैं, हम में और उन में कोई फर्क नहीं है।

सर्वथा ससारी सर्वदा कर्मों से घिरा हुआ यह जीवात्मा परमात्मा बन सकता है। कितना अद्भुत सिद्धान्त है यह। सदा ज्ञानावरणीय से आवरित आवरण मुक्त हो सहज केवलज्ञान प्रकाश से अनन्तज्ञानमय होता है। अनन्त दर्शन को प्रकट करता है। सर्वथा व्याकुलता रहित निज सहज अव्याबाध आत्मिक स्वरूप को उपलब्ध कर लेता है।

परिवर्तन का यह सिद्धान्त जैन दार्शनिक धरातल पर अत्यन्त मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। सामान्यतः व्यक्ति स्वयं को कर्मबधन में बंधा हुआ मानकर अत्यन्त लाचार और विवश मान रहा है। फलतः वह कुछ नहीं कर पाता है। जब भी कोई दुःख की अनुभूति को वह पाता है तो उसे कर्मोदय मानकर सात्वना पाता है। कर्मोदय से जीव सुख-दुःख की अनुभूति अवश्य पाता है। परन्तु, कर्मों के उदय के पूर्व व्यक्ति इसके परिवर्तन में स्वतंत्र है। वह उसे बदल सकता है, समाप्त कर सकता है, या पहले भी उदय में ला सकता है। कर्म बधन से उदय के बीच के इस अवसर को कर्म-सिद्धान्त में अबाधाकाल यानि Extension Period कहते हैं। “जो किया है वह भोगना ही पड़ेगा।” इस सामान्य सिद्धान्त में कर्मशास्त्र एक बहुत बड़ा अपवाद सिद्धान्त भी समझाता है। कर्म-सिद्धान्त में इसे उद्धर्तन, अपवर्तन, उदीरणा और सक्रमण कहते हैं। हम आज यहाँ जिस परिवर्तन पर सोच रहे हैं वह हमें इस अपवाद से बहुत कुछ प्रदान करता है। सक्रमणकरण यह परिवर्तन का प्रमुख सिद्धान्त है।

आगम में इसे इन शब्दों में कहा है—

चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते, त जहा—

१. सुभे नाममेगे सुभविवागे,
२. सुभे नाममेगे असुभविवागे,
३. अंसुभे नाममेगे सुभविवागे,
४. असुभे नाममेगे असुभविवागे।

—ठाण ४। ६०३

इसमें दूसरा और तीसरा—ये दोनों विकल्प महत्त्वपूर्ण हैं और सक्रमण के सिद्धान्त के प्ररूपक हैं। एक होता है शुभ, पर उसका फल अशुभ होता है। दूसरा अशुभ होता है पर उसका फल शुभ होता है। बँधा हुआ है पुण्य कर्म, पर उसका फल पाप होता है। बँधा हुआ

है पाप कर्म, पर उसका फल पुण्य होता है। कितनी विचित्र बात है। यह सारा सक्रमण का सिद्धान्त है। सक्रमण का सिद्धान्त पुरुषार्थ का सिद्धान्त है। ऐसा पुरुषार्थ होता है कि अशुभ शुभ में और शुभ अशुभ में बदल जाता है। सक्रमण से कर्म-परमाणुओं में परिवर्तन किया जा सकता है।

सक्रमण का यह सिद्धान्त कर्मवाद की बहुत बड़ी वैज्ञानिक देन है। आज के वैज्ञानिक इस प्रयत्न में लगे हुए हैं कि “जीन” को यदि बदला जा सके तो पूरी पीढ़ी का परिवर्तन हो सकता है। सक्रमण का सिद्धान्त जीन को बदलने का सिद्धान्त है। आधुनिक “जीव विज्ञान” की जो नई वैज्ञानिक धारणाएँ और मान्यताएँ आ रही हैं, वे इसी सक्रमण सिद्धान्त की प्रतिपादनाएँ हैं।

इस श्लोक में ५ लकार हैं जो क्रमशः लक्ष्य, लगन, लय, लीन और लाभ का प्रतीक है। परमात्म-भक्ति का प्रथम लक्ष्य बनता है, बाद में भक्त की परमात्मा में लगन लगती है, जहाँ लगन होती है वहाँ साधक उस रूप में लय होता है। लयता लीनता से ही पल्लवित होती है और अन्त में—लीनता तत्त्वरूप हो जाने का अनन्य लाभ प्राप्त कराती है।

परिवर्तन के इस महान सिद्धान्त को आचार्यश्री के द्वारा इस गाथा में प्राप्त कर हम अपने में एक अपूर्व परिवर्तन कर सके तो भक्तामर स्तोत्र हमारे लिये भी सफल स्तोत्र है। सहज परिवर्तन की दिशा में प्रगतिशील साधक की लोक पर जो प्रतिक्रिया होती है उसे हम प्रसन्नता के रूप में देखते हैं। बिना प्रसन्नता के अनुष्ठान निरर्थक है। इसकी सार्थकता अब हम परम-आत्मिक “प्रसन्नता” नामक प्रवचन से सम्पादित करेंगे।



हे वत्स! आत्मा अनंत आनंद से सम्पन्न है, परिपूर्ण है, उसी में तू अपने मन को लगा, चित्त को रमा, उसी में अपने अध्यवसायो को सजोये रख।

भक्तामर स्तोत्र परम प्रसन्न स्वरूप परमात्मा से मिलन कराकर उस प्रसन्न स्रोत में भक्त को अनुस्यूत करता है। इसी विलक्षणता ने इस स्तोत्र की गरिमा बढ़ायी है। काल के परिवर्तन में भी इसकी यह विशिष्टता आज भी यथावत् है। आज भी भक्तामर स्तोत्र का पाठ करने वाला समस्त दलितो से मुक्त हो, प्रसन्न होता है। कोई इसे स्तोत्र का चमत्कार मानता है, कोई इसे परमात्मा का प्रसाद मानता है तो कोई इसे कर्मक्षय द्वारा क्षायिक भावों की उपलब्धि मानता है। परंतु, एक बात निश्चित है कि यह स्तोत्र प्रत्येक काल, प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक वातावरण में प्रसन्नता प्रदान करने का गुण प्रकट करता रहता है।

यदि इसे चुनौती ही मानें पर एक बात अवश्य ध्यान रहे कि बिना चित्त-शुद्धि के यह प्रसन्नता नहीं मिल सकती। बिना प्रसन्नता के क्षोभ नहीं मिट सकता। प्रत्येक आक्रमणों से क्षुब्ध होने वाला प्राणी चिरप्रसन्नता का पात्र नहीं बन सकता, क्योंकि जिस हृदय में स्थायी प्रसन्नता आती है वहां खिन्नता समाप्त हो जाती है। फलतः प्रसन्न व्यक्ति के पास जो भी आता है, प्रसन्न हो जाता है।

आचार्यश्री भक्तामर स्तोत्र द्वारा हमें यही सिखाते हैं—परम के स्वरूप को अपने भीतर प्रकट करो, उदित करो। यह उदय ऐसा उदय है जिसका कभी अस्त नहीं होता है। सम्पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ इस प्रसन्न स्वरूप की अपने भीतर प्रतिष्ठा करो। अनुकूलता का भेद भूल जाओ। प्रतिकूलताएँ अपने आप अनुकूल होती जाएँगी। इन्हीं भावों को उनकी भाषा में अब देखे—

नास्त कदाचिदुपयासि न राहुगम्य.

स्पष्टीकरोषि—सहसा युगपज्जगन्ति।

नाम्भोधरोदर—निरुद्ध-महाप्रभावः,

सूर्यातिशायिमहिमाऽसि मुनीन्द्र! लोके ॥ १७ ॥

मुनीन्द्र!

कदाचित्

अस्तम्

न

उपयासि

न

राहुगम्य

— हे मुनीश्वर (आप)

— कभी भी

— अस्त अवस्था को

— नहीं

— प्राप्त होते हो

— न

— राहु ग्रह के द्वारा ग्रसने योग्य (राहु नवग्रहों में एक ग्रह है जो सूर्य तथा चन्द्रमा के ऊपर सक्रमण काल में अपनी छाया डालता है। तब उनका ग्रहण हुआ माना जाता है।)

असि — हो

न — न

अम्भोधरोदर- — बादलो के उदर मे जिसका महाप्रभाव
निरुद्धमहाप्रभाव — अवरुद्ध हो सका है (अतः)

लोके — इस लोक मे

सूर्यातिशायि महिमा — सूर्य से भी अधिक महिमा को आप धारण
करने वाले

असि — हो।

यहा पर सूर्य के साथ परमात्मा की तुलना करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि तुलना उनकी होती है जो समान हो। भक्तामर स्तोत्र की अद्भुत शैली यही है कि इसमे पहले तुलना करने का प्रयत्न कर फिर अतुलनीय बताकर पुनः उन्ही उपमा को प्रतीक बनाकर परमात्मा को विश्लेषित किया गया है।

इसे हम तीन तरह से देखेगे—

१ सामान्य याने जागतिक सूर्य।

२. परमात्मारूप सूर्य।

३ आत्म सूर्य।

१ सामान्य सूर्य—सूर्य जो प्रतिदिन उदित होकर सृष्टि के प्राणियों को नवचेतना, स्फूर्ति और आवश्यक ऊष्मा प्रदान करता है। मानव सृष्टि ने अपने मानस-विकास मे इसे अधिक मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण माना है। चूँकि इसके अभाव मे मानवीय ऊर्जा की तरंगो मे परिवर्तन आना असंभव है।

उदित होते हुए सूर्य की कई लोग पूजा अर्चना करते हैं, नमस्कार करते हैं। इसकी विविध तरह से पर्युपासना कर जगत ने इसकी महत्ता को स्वीकार किया है। सर्व प्रवृत्तियो का प्रेरक बल यह सूर्य शुद्ध तेजोलेश्यावान् है। इसी कारण इसे रोग, अधकार और गदगी रूप अनिष्टों को दूर करने वाला माना है।

इस सृष्टि के प्राणियों को सूर्य की इतनी अधिक आवश्यकता होने पर भी इसका अभाव भी होता है। यह अभाव नित्यसृष्टि मे नियमित हो जाने से हम इसे अनुभव का विषय नहीं बना सके हैं, परंतु जब एक भावसूर्य की हमे उपलब्धि होती है तब अभाव-सूर्य के अभाव का हमे उद्बोध होता है। इसी विशिष्ट ध्यान प्रणाली मे लीन कविश्री ने जागतिक सूर्य मे चार अभाव दर्शाये हैं—

१ यह अस्त होता है।

२ राहु से ग्रसित होता है।

३ बादलो के उदर में इसका महाप्रभाव अवरुद्ध हो सकता है।

४ यह दिन में प्रकाश देता है, रात में नहीं। यह खुले स्थानों को पूर्ण रूप से आलोकित करता है, आच्छादित स्थानों को नहीं।

अब इस सामान्य सूर्य की परमात्मारूप सूर्य के साथ तुलना कर इन दोनों सूर्यों का हमारी अपनी चेतनसृष्टि पर होने वाले प्रभाव को देखेंगे।

हे विश्वविभु! आप सूर्य से भी अधिक महिमा को धारण करने वाले हो क्योंकि सूर्य में पाये जाने वाले चारों अभाव आप में सम्पूर्ण भावरूप हैं।

१ सूर्य उदय भी होता है अस्त भी होता है परंतु हे प्रभु! आप कभी अस्त नहीं होते हो। केवलज्ञान पूर्ण है। इस पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति में कभी अभाव नहीं आता है। क्योंकि आप शाश्वत हो, नित्य हो, ध्रुव हो।

२ राहु ग्रह से सूर्य ग्रसित होता है जिसे ससार ग्रहण कहता है। हे परमात्मा! ससार के किसी भी जड़ परमाणु से आप ग्रसित नहीं होते हो। सर्वथा द्वेष से रहित होने से आपका कोई दुश्मन नहीं है। इसलिए आपके आत्मतेज को अवरुद्ध करे ऐसा कोई राहु इस सृष्टि में नहीं है।

३ सघन बादलों के समूह में सूर्य का प्रकाश अवरुद्ध हो जाता है। परमात्मा! आप अनिरुद्ध हो। सर्वथा कर्म रहित हो। कर्मरूपी बादलों का अश मात्र भी आपको अब रोक नहीं सकता है। आपका परम चैतन्य सूर्य नित्य आवरण रहित होता है।

४ सर्व दूषणों से रहित है परमात्मा। जागतिक सूर्य एक साथ सृष्टि के कुछ विभाग को आलोकित करता है लेकिन आप समस्त लोकालोक को एक ही साथ आलोकित करते हो।

इन विशिष्टताओं के कारण आपको “आइच्चेसु अहिय पयासयरा” सूर्य से भी अधिक प्रकाश करने वाला माना है।

इन दोनों सूर्यों के स्वरूप का विश्लेषण करने पर एक प्रश्न होता है कि जगत का सूर्य कुछ समय, क्षेत्र या अस्त की मर्यादा में बंधा हुआ भी कुछ समय, कुछ क्षेत्र या अस्तित्व की स्थिति में आवरण रहित अवस्था में हमारे दैहिक और मानसिक अवतरणों में परिवर्तन और परिवर्धन लाकर हमें प्रसन्नता प्रदान करता है, परंतु जिन परमात्मारूप सूर्य की महिमा की हम चर्चा करते हैं वे हममें क्या परिवर्तन कर सकते हैं? हमारी मानसिक प्रसन्नता को कैसे वर्धमान कर सकते हैं? उनके इस महत्त्व का स्वीकार भी कर लें, परंतु उनका हमारे साथ क्या सम्बन्ध है? इसे समझे बिना भक्तामर स्तोत्र से हमारा कोई सबंध स्थापित नहीं होता है।

हमारी आत्मा स्वयं एक सूर्य है जो सदा अस्तित्वमय है। शाश्वत, नित्य और ध्रुव है। योग के अनुसार शरीर में षट्चक्र हैं। इनमें मणिपूर चक्र जो नाभिस्थान में रहता है इसे सूर्यचक्र भी कहते हैं। मानवीय प्राण नाभिकेन्द्र से स्पंदित होते हैं। समस्त प्राणधारा विशेष ऊर्जा से व्यवस्थित रहती है। “नमो अरिहताण” या “अहं” की विशेष ध्वनि से साथ श्वासोश्वास को विधियुक्त मणिपूर या सूर्यचक्र में पूरित करने से हमारी अतः तरंगों का विशेषतः बाह्य प्रकाश तरंगों के साथ सबंध स्थापित होता है। मणिपूर चक्र का भक्तामर के साथ के सबंध को हमने स्तोत्र की प्रथम गाथा के विवेचन में भी संयोजित देखा था।

मन के संस्कार मणिपूर चक्र से संयोजित होते हैं। बाह्य वातावरण का प्रभाव मन पर पड़ता है, इससे हमारे मन के संस्कारों में परिवर्तन आता है। सर्वथा विकारों से रहित आत्मा अनायास इस विकारी दुनिया का प्रवास करने निकलता है। इसी के द्वारा हममें क्रोधादि विकार रूप कषाये प्रकट होती हैं। सर्वथा शब्द, रूप, स्वादादि में सतत रमनेवाले इन भावों का परिवर्तन कैसे संभव हो सकता है? इसका उपाय साधना में संस्कार परिवर्तन से बताया है। यह सूर्य चन्द्र से सम्बन्धित है। यदि हम सूर्य या मणिपूर चक्र में स्पंदित प्राण धारा की तरंगों का सबंध किसी शान्त, विकार रहित तरंगों से संयोजित कर देते हैं तो संस्कारों में परिवर्तन आ जाता है। और, संस्कारों का परिवर्तन हमारे जीवन के समस्त क्रियासूत्रों का परिवर्तन है।

ऐसी शांत, विकार रहित तरंगें मात्र परमात्मा वीतराग प्रभु में ही निहित हैं, इसी कारण साधना में हम इन्हें परम आराध्य देव मानते हैं। मात्र और ध्यान साधना की विशेष विधि से बाह्य तरंगों में प्रवाहित संस्कार अंतरंग में परिवर्तित किये जा सकते हैं। यह परिवर्तन आत्मवृत्ति का परिवर्तन है। वृत्ति का परिवर्तन ही वास्तविक परिवर्तन है। परमात्मा की परम प्रसन्नता का वह विशेष पात्र बन जाता है। उसकी वे विशेष निष्क्रिय क्षमताएँ सक्रिय हो जाती हैं।

आत्मा द्रव्यरूप से नित्य है, अस्तित्वमय है। फिर भी विभिन्न पर्यायों में वह परिवर्तित होता रहता है, बदलता रहता है। यह सदोदित ही है। इसका अस्त नहीं होता। फिर भी अज्ञान के कारण भ्रामक धारणा में दैहिक-जन्म-मृत्यु आदि को जीव स्वयं की जन्म मृत्यु मानता है। इसलिए महायोगी श्रीमद् राजचंद्रजी ने कहा है—

“देह—जीव एकरूप भासे छे अज्ञान वडे

क्रियानी प्रवृत्ति पण तेथी तेम थाय छे,

जीवनी उत्पत्ति अने रोग, शोक, दुख, मृत्यु,

देह नो स्वभाव जीव—पद मा जणाय छे

जड़ ने चेतन बनने . . .”

परमात्मा का ध्यान हमें इस भ्रमपूर्ण मिथ्यादर्शन से मुक्त कर सहज आत्मदर्शा में संयोजित करता है।

विकाररूप राहु से ग्रसित हो जाने के कारण इसका निर्विकार सहज तेज आवरित हो जाता है। निर्विकार परम तेजरूप परमात्मा-सूर्य से सम्बन्ध स्थापित करने पर निर्विकार स्थिति प्रकट हो जाती है।

कर्मरूप बादलो के आवरणों में छिपा यह निज स्वरूप अप्रकट रहता है। सर्वथा कर्म रहित परमात्मा का सम्बन्ध होने पर कर्मों के कारणरूप अन्य सर्व सम्बन्ध छूट जाते हैं और आत्मा स्वयं कभी कर्मरहित स्थिति प्राप्त कर परमात्म-स्वरूप प्राप्त करता है।

क्षयोपशम भावों में कभी सहज रूप से आलोकित होता है, कभी कर्मकषायों से अवरुद्ध होता है। लेकिन परमात्मारूप सूर्य का तेज प्राप्त कर शुद्ध निरजन आत्म चैतन्य को प्रकट करता है, प्रकाशित होता है।

इस पर से हम यह सोच सकते हैं कि जागतिक सूर्य के प्रकाश की गति एक सेकण्ड में एक लाख छियासी हजार मील की है, तो आत्मरवि की गति कितनी तीव्र हो सकती है। ध्यान के द्वारा वह शीघ्र ही अनन्तवीर्य सम्पन्न वीतराग का सात्रिध्य प्राप्त कर तत्स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

जैन कथा साहित्य में परमात्मा महावीर के परम शिष्य प्रथम गणधर श्री गौतम स्वामी का आत्मलब्धि के द्वारा सूर्य की किरणें पकड़ कर अष्टापद पर्वत पर आरोहण का विशेष प्रसंग आता है। कुछ समय पूर्व कई श्रोता इस कथन में शका करते थे कि यह कैसे सम्भव हो सकता है? क्या सूर्य की किरणें भी पकड़ी जा सकती हैं?

अमेरिका के कुछ वैज्ञानिकों ने जब प्रथम बार यह घटना सुनी तो सोचा। जैनो के इस कथन में अवश्य कुछ तथ्य है। उन्होंने खोज शुरू की और इसे सफल करते हुए प्रथम बार मरीनर ४ को मंगल ग्रह की ओर छोड़ा। उसके चार Solar Panel के Bulbous पर सूर्य की किरणें गिरते ही वे अणुशक्ति के रूप में रूपांतरित होती रही। इस प्रकार मरीनर ४ ने बत्तीस करोड़ माईल का प्रवास मात्र सूर्य की किरणें पकड़ कर किया था। यह मरीनर ४० टन लोहे से निर्मित था। प्रश्न होता है यदि ४० टन लोहे का आकाश जहाज ३२ करोड़ माईल का प्रवास सूर्य की किरणें पकड़कर कर सकता है तो अनन्त लब्धि सम्पन्न गौतम स्वामी क्यों नहीं अष्टापद पर्वत पर आरोहण कर सकते?

विदेशों में कुछ ऐसे भी देश हैं जहाँ ६ महिने तक सूर्य का अस्त नहीं होता है और इसी प्रकार ६ महिने उदय भी नहीं होता। ऐसे देश में ६ महिने निरंतर दिन होते हैं, ६ महिने निरंतर रात होती हैं। बड़े दिन और बड़ी रात हो वहाँ भी अस्त तो है, परन्तु जिस आत्मा ने परमात्मारूप सूर्य को अपने अन्तःकरण में प्रकट कर लिया उनका कभी अस्त नहीं होता।

सूर्य की तरह चन्द्र को भी उपमा का एक विशिष्ट साधन मानकर आचार्य श्री अगली पंक्ति में इन्हीं विचारधाराओं को चन्द्र के साथ वर्धमान करते हुए कहते हैं—

नित्योदय दलित-मोह-महान्धकार,

गम्य न राहुवदनस्य न वारिदानाम्।

विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्प-कान्ति,
विद्योतयज्जगदपूर्व-शशांक-बिम्बम् ॥१८॥

(भगवन्)	—(हे परमात्मा!)
तव	— आपका
मुखाब्जम्	— मुख—कमल
नित्योदयम्	— सदा उदय रहनेवाला—रात-दिन उदय रहनेवाला
दलितमोहमहान्धकारम्	— मोहरूपी महान्धकार को नाश करनेवाला
अनल्पकान्ति	— अधिक कान्तिवान—अत्यन्त दीप्तिवान
न राहुवदनस्य गम्यम्	— राहु-ग्रह के मुख में प्रवेश नहीं करता
न वारिदानाम् गम्यम्	— बादलो में छिप नहीं सकता है
जगत्	— सम्पूर्ण विश्व को
विद्योतयत्	— विशेष रूप से प्रकाशित करता हुआ
अपूर्वशशाकबिम्बम्	— अलौकिक चन्द्रमण्डल
विभ्राजते	— शोभा देता है।

यह श्लोक गाथा १७ से बहुत कुछ अभिन्न है। वहाँ अस्त नहीं होने का कहा है, यहाँ नित्य उदित रहने का कहा है। इसी प्रकार अन्य सारी तुलनाएँ समझ लेनी चाहिये।

चन्द्र शीतलता का प्रतीक है। सर्वत्र प्रिय है। सहस्रार चक्र में सिद्धशिला का ध्यान चन्द्र के आकार में कर सिद्ध परमात्मा से एकरूपता साधी जा सकती है। ग्रीष्म की मौसम में ऐसा ध्यान करने से पूरे वदन में शीतलता का अनुभव होता है।

वैसे ही भक्तामर स्तोत्र में चन्द्रमा का महत्व अधिक ही रहा है। चन्द्र मन का प्रतीक है। इसी कारण मानसिक विकारों से पीड़ित मानव समाज भक्तामर स्तोत्र के नित्य पारायण से आह्लाद प्राप्त करता है।

इन दोनों गाथाओं के समाहार रूप गाथा १९वीं हैं।

किं शर्वरीषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा ?

युष्मन्मुखेन्दु-दलितेषु तमस्सु नाथ !

निष्पन्नशालिवनशालिनि जीवलोके,

कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥१९॥

नाथ !	— हे स्वामिन् !
तमस्सु युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु	— आपके मुख-रूपी चन्द्रमा के द्वारा हर तरह के प्रगाढ़ अन्धकारों को नाश किये जाने पर

शर्वरीषु	— रात्रि मे
शशिना किम्	— चन्द्रमा से क्या प्रयोजन ?
वा	— अथवा
अन्हि	— दिन मे—दिवस मे
विवस्वता किम्	— सूर्य से क्या प्रयोजन ?
निष्पन्नशालिवनशालिनि	— परिपक्व धान से वनो के सुशोभित हो जाने पर
जीवलोके	— भूलोक मे—पृथ्वी मे
जलभारनघ्नै	— पानी के भार से नीचे की ओर झुके हुए
जलधरै	— बादलो के द्वारा
कियत् कार्यम्	— कितना सा काम निकलता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

परमार्थ की दृष्टि से प्रस्तुत गाथा भक्तामर स्तोत्र की एक अपूर्व गाथा है। निमित्त कारण का अत्यन्त महत्व प्रस्तुत करनेवाले इस स्तोत्र मे झलकता निश्चयात्मक स्वरूप यह इस गाथा की विशिष्टता है। आत्मा जब तक परमात्मा की भक्ति बाह्य रूप से करता है वह परमात्मा से सर्वथा भिन्न है। भक्ति की चरम सीमा मे यह भिन्नता समाप्त होती है। और भिन्न अभिन्न बन जाता है।

यहा धान्य की फसल पक जाने पर पानी की निरर्थकता बताकर साधक की एक उच्चदशा का आलोकन कराया है। साधक कहता है— हे परमात्मा ! तुझे सूर्य कहूँ या चन्द्र ? मैं स्वयं भी एक सूर्य हूँ लेकिन वह, जिसका सहजस्वरूप अप्रकट है। इसीलिये वह अनुदीय है। एक बार साधना की परिपक्वता आने पर मेरा आत्मसूर्य या आत्मविधु स्वयं प्रकाशमान-उदीयमान हो जाएगा। परिपक्वता के लिये ही प्रभु ! तेरा स्मरण कर मैं प्रकाशमान होने का प्रयास करता हूँ। जब मैं स्वयं प्रकाशमान हो जाऊँगा, तब तुझ मे और मुझ मे क्या फरक रहेगा ? अर्थात् कुछ नहीं।

गौतम स्वामी के बारे मे ऐसा कथन है कि एक बार १५०० तापस सन्यासियों को दीक्षित कर वे परमात्मा महावीर के पास आ रहे थे। मार्ग मे नूतन दीक्षितों को धर्म, आत्मा और परमात्मा का स्वरूप समझा रहे थे। यह सब सुनते-सुनते ही नये मुनियों को पूर्ण केवलज्ञान हो गया था, और वे केवलियों की सभा मे जा बैठे थे। गौतमस्वामी छद्मस्थ थे, उन्होने कहा—आपको वहा नहीं बैठना है, तब परमात्मा महावीर ने कहा—गौतम ! वे वहीँ सही हैं, अब मुझ मे और उन मे कोई अन्तर नहीं है।

इस गाथा मे साधक परमात्मा से अपनी छद्मस्थदशा की सवेदना प्रकट कर परम की कृपा से शीघ्र पूर्ण-ज्ञान की शुभकामना करता है।

“जीवलोके” शब्द साधक की ऐसी ही दशा का द्योतक है और ऐसे मे परमात्मा की अत्यन्त आवश्यकता का संकेत है। जीवन में साधना की खेती के पक जाने पर प्रभु तेरी

क्या आवश्यकता है, पर अभी तो सिर्फ साधना के बीज बोये हैं। तू नहीं बरसेगा, तेरी कृपा नहीं होगी तो इस भयानक दुष्काल में ये बीज सड़ जायेंगे, जल जाएंगे।

परमात्मा की इस प्राप्ति की आवश्यकता को और विकसित करते हुए मुनिश्री कहते हैं—

ज्ञानं यथा त्वयि विभाति कृतावकाश,
नैवं तथा हरिहरादिषु नायकेषु।
तेजः स्फुरन्मणिषु याति यथा महत्त्वं,
नैवं तु काचशकले किरणाकुलेऽपि ॥ २० ॥

कृतावकाशम्	— अनन्त पर्यायात्मक पदार्थों को प्रकाशित करने वाला
ज्ञानम्	— केवलज्ञान
यथा	— जिस प्रकार
त्वयि	— आप में
विभाति	— शोभायमान है
तथा	— वैसा (उस प्रमाण से)
हरिहरादिषु	— हरिहरादिक अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि में
नायकेषु	— नायकों में, लौकिक देवताओं में
न एवम्	— वैसा है ही नहीं, अर्थात् सर्वथा ही नहीं
स्फुरन्मणिषु	— झिलमिलाती मणियों में (महान रत्नों में)
तेज	— दीप्ति, कान्ति, चमक-दमक
यथा महत्त्वं याति	— जैसा महत्त्व प्राप्त करते हैं
किरणाकुलेऽपि	— रश्मि राशि से व्याप्त होने पर भी
काच शकले	— काँच के टुकड़ों में—काँच के हिस्सों में
तु	— तो
न एवम्	— प्राप्त ही नहीं करता

कृतावकाश शब्द यहाँ बड़ा महत्वपूर्ण शब्द है। कृत याने किया है। अवकाश के यहाँ दो अर्थ घटित होते हैं—

१ प्रकाश और २ अवसर (Chance)।

हे परमात्मा! अवसर प्रदान करनेवाला जैसा ज्ञान तुझ में सुशोभित होता है वैसा अन्य में नहीं होता है, क्योंकि तुझ में प्रकट यह ज्ञान दूसरों के ज्ञान को मुख्य अवतरण बन जाता है। परमात्मा का ज्ञान अन्य के अज्ञान को हटाने का अवसर है।

ज्ञान के साथ शुद्ध सम्यग् दर्शन भी होता है। इसकी उपलब्धि को निखारते हुए आगे कहते हैं—

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्ट्या,
दृष्टेषु येषु हृदय त्वयि तोषमेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्य
कश्चिन्मनो हरति नाथ। भवान्तरेऽपि ॥ २१ ॥

नाथ।	— हे भगवन्।
मन्ये	— मैं मानता हूँ कि—
हरिहरादय	— विष्णु और महादेव आदि लौकिक देव
दृष्ट्या	— हमारे द्वारा देखे गये
एव वर	— यह अच्छा ही हुआ
येषु दृष्टेषु	— जिनके देख लेने पर
हृदय	— (मेरा) हृदय
त्वयि	— आप में
तोषम्	— सन्तोष को
एति	— प्राप्त होता है
भवता वीक्षितेन	— आप को देख लेने से
किम्	— क्या (होता है ?)
येन	— जिससे
भुवि	— भूमण्डल में (पर)
अन्य कश्चित्	— अन्य कोई (देव)
भवान्तरे अपि	— जन्म-जन्मान्तर में भी
मनो	— मन को—चित्त को—हृदय को
न	— नहीं
हरति	— हरण कर सकता

इस गाथा में परमात्मा की उपलब्धि को सन्तोष का एक अनोखा रूप दे दिया है। इसकी महत्वपूर्ण पंक्ति है—

दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति

तुम्हें देख लेने पर हृदय में सन्तोष होता है। सन्तोष सदा प्रसन्नता लाता है। योगिराज आनन्दघनजी ने कहा—

चित्त प्रसन्ने रे पूजन फल कह्यु, पूजा अखडित एह रे।

परमात्मा के पूजन का यदि कोई फल है तो वह है चित्त की प्रसन्नता। उनकी पूजा की जाय, स्मरण किया जाय, नमन किया जाय। और, यदि चित्त प्रसन्न नहीं होता है तो पूजा निष्फल है। पूजा अखडित कैसे हो सकती है? तो कहते हैं कि वह चित्त की प्रसन्नता से होती है। द्रव्य-स्मरण निरंतर नहीं होता है, पर भाव-स्मरण निरंतर होता है और ऐसा निरंतर ध्यान निरंतर प्रसन्नता लाता है।

परमात्मा के कृपा प्रसाद से प्रसन्न और पुलकित व्यक्ति विश्वास के क्षणों में सर्व आकर्षणों से मुक्त होकर एक विशेष स्वरूप में सलीन हो जाता है। प्रसन्नता की यह परिपूर्ण सफलता स्वरूप की उपलब्धि है। इसे हम “स्वरूप” नामक विवेचन से प्राप्त करेंगे।



१४. स्वरूप

स्वरूप स्वभाव है। जो स्वयं से कभी विलुप्त नहीं होता है वही तो स्वरूप है। जो निरंतर प्रचलित रहता है, और प्रकटित होता है। स्व अनन्त है, अतः स्व के रूप भी अनन्त हैं। अकेले के लिए, अकेले के द्वारा, अकेले की उपलब्धि में अनन्त को समा देना स्वरूप को पा जाना है।

स्वरूप याने अपनी चेतना का साक्षात्कार। समग्र विभाजनों में छटी-बटी ऊर्जा निज-सहज में जब वापस लौटती है तब स्वरूप का बोध होता है। इस बोध में बाधक स्वयं में स्वयं को भूल जाना है। स्वरूप में लौटना याने अपने आपको पाना है। स्वरूप से अनभिज्ञ रहना याने अपने आपको खोना है। सपनों का सौदागर बना हुआ व्यक्ति कल्पना और भ्रांति में सिमटकर अपनी समग्र ऊर्जा को विभाजित कर अवबोध से रहित होता है।

स्वरूप को पाना ही अस्तित्व की सबसे बड़ी उपलब्धि है। स्वरूप में रम जाना सच्ची समाधि है और स्वरूप के आनन्द में स्वयं को देखते रहना सम्यक् सम्बोधि है। स्वरूप का आदर करने से स्वरूप की उपलब्धि होती है। जो स्वरूप को उपलब्ध कर लेता है उसे अपने अस्तित्व का बोध हो जाता है।

स्वरूप से यह तथ्य झलकता है कि मानी हुई सत्ताएँ केवल भ्रम के आधार पर जीवित हैं। जब तक प्राणी अपनी प्रसन्नता के लिए अपने से भिन्न की खोज करता है तब तक वह स्वयं से ही धोखा करता है। स्वयं से ही अचिन्हित रहता है।

स्वरूप का अनुसन्धान परमात्मा बनने की प्रक्रिया है, परन्तु प्रश्न होता है कि इस स्वरूप को, जो अपना ही निजरूप है कैसे प्रकट किया जाय? महापुरुषों ने इसका समाधान दिया कि चैतन्य में प्रतिष्ठित होने पर ही स्वरूप उपलब्ध हो सकता है।

जब तक व्यक्ति चैतन्य से बाहर होता है वह वासना से प्रभावित होता है। वासनामय वातावरण में आन्दोलित होता है और वासना के ऊर्ध्वीकरण से तरंगित होता है। परिणामतः उसकी ऊर्जाएँ विरुद्ध दिशा में प्रगति करती हैं। और उसे अस्तित्व बोध से रहित करती हैं।

स्वरूप की अनुभूति से रहित होकर वृत्ति को सजोते रहना—यह अपने आप से नैतिक अपराध है। सृष्टि ने इस अपराधी मनोवृत्ति का एकमात्र दण्ड स्वानुभव से रहित होना बताया है। वृत्तियों से व्याकुल चित्त को पवित्र वातावरण भी पावनता नहीं दे सकता

है। महापुरुषों का सान्निध्य और उनके स्वरूप का चिन्तन साधना क्षेत्र में स्वरूप जगाने की सबसे बड़ी चुनौती है।

स्वरूप की उपलब्धि जन्म और मृत्यु से पर होने की प्रक्रिया है। फिर भी आचार्यश्री ने परम पुरुष के जन्म को महत्त्वपूर्ण बताते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वह जन्म भी महान् है जिसमें स्वयं के स्वरूप को उजागर कर अन्य अनेक आत्माओं को स्वरूप का पथ-दर्शन कराया जाय। इसी को आचार्यश्री इस पद द्वारा समझाते हैं।

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुत त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मि,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥ २२ ॥

स्त्रीणाम् शतानि	— स्त्रियों के शतक अर्थात् सैकड़ों स्त्रियां
शतश	— सैकड़ों
पुत्रान्	— पुत्रों को
जनयन्ति	— जन्म देती हैं (परन्तु)
त्वदुपमम्	— आपके समान
सुतम्	— पुत्र को
अन्या	— दूसरी अर्थात् आपकी माता के अतिरिक्त और कोई भी
जननी	— माता
न प्रसूता	— नहीं जन सकती, नहीं उत्पन्न कर सकती
सर्वा	— सभी
दिश	— दिशाएँ
भानि	— नक्षत्रों को, ताराओं को
दधति	— धारण करती हैं (किन्तु)
प्राची एव दिग्	— पूर्व दिशा ही, केवल पूर्व दिशा ही
स्फुरदंशुजालम्	— प्रकाशमान किरणों के समूह वाले
सहस्ररश्मि	— सूर्य को,
जनयति	— जन्म देती है।

परमार्थ से इस श्लोक में चेतना के अनूठे भव्यत्व को उद्घाटित किया गया है। देहसामर्थ्य के दृष्टिकोण से मोक्षमार्ग के दाता, महामंगलकारी परमात्मा को गर्भरूप में धारण करनेवाली माता भी सामर्थ्यवान् होती है। परमात्मारूप अद्वितीय पुत्र को अवतीर्ण

करने वाली माता भी असामान्य होती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए यहाँ पर परमात्मा की तुलना सूर्य से और माता की तुलना पूर्व दिशा से कर इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

अब हम सोचेंगे कि इस श्लोक के साथ हमारा और परमात्मा का क्या संबंध है? हम में आचार्य सहित भक्ति करनेवाले हम सब आ जाते हैं। देह-सामर्थ्य और भक्ति-सामर्थ्य की यहाँ तुलना की जा रही है। भक्ति एक स्रोत है, प्रवाह है, प्रक्रिया है, गति है, गत्यात्मकता है। भक्ति स्वयं मातृस्वरूप है। भक्ति को वात्सल्य का ही रूप माना है। ऐसी भक्ति जब समस्त रोमों में रम जाती है, आत्मप्रदेशो में छा जाती है तब चैतन्यरूपा हो जाती है, ऐसी चेतना माता है और यह माता अपने में परमात्म स्वरूप को जन्म देती है (प्रकट करती है)।

भक्ति के अतिरिक्त अन्य कौन सी भावस्थिति है जो परमात्मा को प्रकट कर सके? जैसे अन्य दिशाएँ अन्य नक्षत्रों को धारण कर सकती हैं पर रविराज को प्रसव करने का सौभाग्य तो सिर्फ प्राची को ही मिला है वैसे ही भक्ति से ही भगवान् प्राप्त होते हैं। परम वात्सल्य भरे हृदय में ही परमात्मतत्त्व प्रकट हो सकता है, अतिरिक्त भावस्थिति में नहीं।

प्रस्तुत महाभावों को हृदय में धारण करना आसान नहीं है। गहराई में उतरने पर ही इसका अनुभव हो सकता है। इन भावों का स्वीकार कर लेने पर प्रश्न होता है कि जो कभी नहीं सोचा वह हुआ और हमारी अनन्त चेतना में वह परम प्रकट हुआ तो इसका क्या प्रयोजन या परिणाम हो सकता है? उनको प्राप्त करने से क्या लाभ है? जिसके अभाव में हमने क्या खोया था जो भावमय होने पर पा लिया?

इसके उत्तर में आचार्यश्री स्वयं साक्षी बनकर हमारे सामने आते हैं। हम प्रारम्भ से देख रहे हैं कि सभी के मोक्ष की कामना करनेवाले आचार्यश्री के सामने विविध परिस्थितियों का सर्जन आत्मिक-परिवर्तन में किसी भी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं कर रहा है। परिस्थितियों का आना और व्यक्ति की दृढ़ता में परिवर्तन हो जाना, यह तो ससार का नियम है लेकिन मुनि, सन्त जब साधना के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तब ऐसी सासारिकता का त्याग करके ही आगे बढ़ते हैं। भक्तामर स्तोत्र इस तरह की हमें सम्पूर्ण प्रतीति कराता है कि परिस्थिति का, प्रतिकूलता का वातावरण बना देना, यह बहुत सहज और स्वाभाविक है। लेकिन भक्तामर स्तोत्र अपनी सर्वोपरि अद्भुतता प्रकट करता है वह यह कि परिस्थिति की प्रतिकूलता व्यक्ति की आत्मिक अनुकूलता में कभी भी बाधा उत्पन्न नहीं कर सकती, बल्कि प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थिति को व्यक्ति अपनी साधना के बल पर अनुकूल बनाता चला जाता है।

यहाँ पर वेड़ियों के बधनों का टूटने का महत्त्व जितना हम मानते हैं उससे भी अधिक महत्त्व है आचार्यश्री की निर्द्वन्द्वता का, आचार्यश्री की निश्चलता का, आचार्यश्री की दृढ़ता का। उन्होंने प्रत्येक प्रतिकूलता को अनुकूल बनाया। इसीलिए यदि आप अन्वेषण

करेंगे तो पूरे भक्तामर स्तोत्र में एक शब्द या एक भी पद्य ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें उन्होंने परमात्मा से ऐसी प्रार्थना की हो कि हे परम प्रभु! तुम मेरे आराध्य हो फिर भी मैं बेड़ियों के बधन में बंधा हूँ। पहले तो बधना ही नहीं चाहिये और यदि बध गया तो वे बधन एक साथ टूट जाने चाहिये। मैं एक-एक गाथा गाऊ और बधन टूटते जायँ . लेकिन ऐसा कोई पद्य इसमें नहीं है। बल्कि ऐसे भाव हमें अवश्य मिलते हैं कि वे तथ्य प्रस्तुत करते हैं। अभी दो दिन से हमारे यहाँ कर्म सगोष्ठी चल रही थी। कई विद्वानों ने विचारों और सिद्धान्तों का सामंजस्य कर कर्म की theory पर विचार प्रस्तुत किये। मैं कभी सोचती हूँ हम किसी एक महापुरुष के जीवन की गहराई में उतर जायँ तो हमें कर्म सम्बन्धी सारे प्रश्नों का समाधान मिल सकता है।

आचार्यश्री हमें स्पष्ट समझाते हैं कि बेड़ियों के बधन आये क्यों? कौन किसको बेड़ियों में बाध सकता है? यही राजा इसी मुनि को क्यों बेड़ी पहनाते हैं? हमारे पास इसका एक ही उत्तर है कर्म से। आचार्यश्री कहते हैं— कर्म के माध्यम से बेड़ियाँ आयी हैं, जिस क्षण ये कर्म टूटेंगे, बेड़ियाँ भी टूट जाएँगी। है कोई आश्चर्य इस बात का? बधन के माध्यम निमित्तरूप राजा है, पर अब तोड़ने के माध्यमरूप निमित्त परमात्मा है। इस प्रकार आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की, मिलन की, चिन्तन की और अन्त में परमात्मा बन जाने की एक विशिष्ट प्रणाली वर्तमान युग में कहीं मिल सकती है तो वह भक्तामर स्तोत्र है।

जिनके अन्तर्मानस में परमात्मा का तात्त्विक मिलन हो चुका है, हृदय में निर्मलता आ चुकी है और जिनकी आत्मा विशुद्धि के क्षेत्र में निरन्तर प्रगति करती हुई चली जा रही है। ऐसे आचार्यश्री के अनाहत नाद में परमात्मा का स्वरूप प्रस्तुत होता है—

त्वामामनन्ति मुनयः परम पुमास-

मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात्।

त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्यु,

नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पन्था : ॥२३॥

मुनीन्द्र!

— हे मुनियों के नाथ!

मुनय

— मुनि लोग

त्वाम्

— तुमको

१. परमम् पुमासम्

— परम पुरुष, उत्कृष्ट पुरुष, लोकोत्तर पुरुष

२. आदित्यवर्णम्

— सूर्य के समान दैदीप्यमान

३. अमलम्

— निर्मल, कर्म-मल रहित

४. तमस परस्तात्

— (अज्ञानरूप) अन्धकार से परे

५. त्वाम् एव

— तुमको ही

सम्यक्	— भलीभाँति (पूर्ण रूप से)
उपलभ्य	— प्राप्त करके
मृत्युम् जयन्ति	— मृत्यु को जीतते हैं (क्योंकि आप स्वप्न मृत्युजय हो)
शिवपदस्य	— मोक्ष पद का, निर्वाण पद का, मुक्ति पद का
अन्य	— कोई दूसरा
शिव	— प्रशस्त कल्याणकारी
पन्था	— मार्ग, रास्ता अथवा पथ
न	— नहीं है। (और)

त्वामव्यय — विभुमचिन्त्य — मसख्यमाद्य,
 ब्रह्माण — मीश्वर — मनन्त—मनङ्गकेतुम्।
 योगीश्वर विदित — योग—मनेक—मेक,
 ज्ञानस्वरूपममल प्रवदन्ति सन्त ॥२४॥

(भगवन्!)	— (परमात्मन्!)
सन्त	— सन्त पुरुष
त्वाम्	— आपको
६ अव्ययम्	— अव्यय, अक्षय, व्यय रहित
७ विभुम्	— व्यापक, उत्कृष्ट ऐश्वर्यवान्
८ अचिन्त्यम्	— अचिन्त्य, अदभुत, कल्पनातीत
९ असंख्यम्	— असंख्य, संख्यातीत
१० आद्यम्	— आदि-पुरुष, आदि तीर्थंकर, पंच परमेष्ठी में आदि अर्थात् अरहत देव
११ ब्रह्माणम्	— ब्रह्मा, ब्रह्म अर्थात् आत्मा, उसमें ही रमण करने वाले, सकल कर्म रहित सिद्ध परमेष्ठी
१२ ईश्वरम्	— ईश्वर अर्थात् कृतकृत्य, समस्त देवों के स्वामी
१३ अनन्तम्	— अन्त रहित, अनन्त गुण युक्त, अनन्त चतुष्टय सहित

१०० भक्तामर स्तोत्र एक दिव्य दृष्टि

१४. अनगकेतुम् — कामदेव को नाश करने के लिए उससे बढ़कर केतु समान
१५. योगीश्वरम् — योगीश्वर, सयोगी केवली
१६. विदितयोगम् — योगवेत्ता, योग विशारद, योग को अच्छी तरह परखने वाला या जानने वाला
१७. अनेकम् — अनेक, सहस्र नामधारी
१८. एकम् — एक, अद्वितीय
१९. ज्ञानस्वरूपम् — ज्ञानस्वरूप, ज्ञानमय, केवलज्ञानी
२०. अमलम् — निर्मल, कर्म-मल रहित
- प्रवदन्ति — कहते हैं

बुद्धस्त्वमेवविबुधार्चितबुद्धिबोधात्,
त्व शंकरोऽसि भुवनत्रय- शकरत्वात्।
धातासि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥

२१. विबुधार्चित — गणधरो, विबुधजनो, विद्वानो 'द्वारा पूजित हे परमात्मा।
- बुद्धिबोधात् — ज्ञान के विकास से, ज्ञान के प्रकाश से
- त्वम् एव बुद्ध — तुम ही बुद्ध हो।
२२. भुवनत्रयशकरत्वात् — तीनों लोकों के (भव्यात्माओं को) सम/शम करने से।
- त्वम् शंकर. (असि) — तुम ही शंकर (हो), कल्याणकारी हो।
२३. धीर ! — हे धैर्य धारण करनेवाले प्रभो!
- शिवमार्ग विधे — मोक्ष मार्ग की विधि के
- विधानात् — विधान करने से अर्थात् प्रतिपादन करने से
- धाता असि — विधाता हो।
२४. त्वम् एव — तुम ही
- व्यक्तम् — प्रकट रूप से
- पुरुषोत्तम — पुरुषोत्तम
- असि — हो।

भक्तामर स्तोत्र में भक्तामर शब्द कहा सिद्ध होता इसकी हम खोज कर रहे हैं। आज परम स्वरूप का वर्णन करते हुए तीन श्लोकों के माध्यम से आचार्यश्री हमें सम्पूर्ण भक्तामरस्तोत्र की सार्थकता प्रदान कर रहे हैं।

त्वा आमनन्ति मुनय —मुनि तुम्हें इस प्रकार मानते हैं। यहा से श्लोक का प्रारम्भ हो रहा है। आप जानते हो आठवें श्लोक में हमने मत्वा शब्द का प्रयोग किया था। हमारे सामने दो चीजें हैं—ज्ञात्वा और मत्वा। जानना और मानना। ये दोनों चीजे महत्त्व की हैं। यदि ज्ञात्वा को आप अपने जीवन में महत्त्व देंगे और मत्वा को नहीं देंगे तो भी आपकी साधना अधूरी है और यदि मत्वा को आप अपने जीवन में महत्त्व देंगे और ज्ञात्वा को नहीं देंगे तो भी आपकी साधना अधूरी है। जैन दर्शन ने ज्ञात्वा और मत्वा दोनों को महत्त्व दिया है। लेकिन जब हम निश्चयनय के आधार पर परम स्वरूप के वर्णन के लिये आगे बढ़ते हैं तो हम सिर्फ ज्ञात्वा की याने जानने की प्रणाली पर हम आगे बढ़ते हैं और यदि किसी भी वस्तु/पदार्थ को सिर्फ जानने के रूप में ही आगे बढ़ेंगे, लेकिन मानेंगे नहीं तो हमारा जानना अधूरा रहेगा। आमनन्ति का मतलब होता है आपको मानते हैं। श्लोको के माध्यम से हमने परमात्मा के स्वरूप को जानने का प्रयास किया था लेकिन यहाँ आचार्यश्री सोचते हैं जानना तो ज्ञान का स्वभाव है और मानना दर्शन का स्वभाव है। ज्ञान के द्वारा जिस वस्तु को जाना जाता है दर्शन के द्वारा उसी वस्तु को स्वीकार किया जाता है। जानने में हम कहते हैं— परमात्मा । तू ज्ञानी है मैं जानता हूँ, परमात्मा । मैं अज्ञान से युक्त हूँ यह मैं जानता हूँ। परमात्मा । तू महान है मैं लघु हूँ। परमात्मा । तू कर्म से रहित है, मैं कर्म से युक्त हूँ, यह मैं जानता हूँ। इससे क्या होगा, जान लिया हमने। सोचो तो सही, हमने जान लिया कि मुनि मानतुगजी जैसे कोई आचार्य थे, जिन्होंने परमात्मा का स्मरण किया था, उनकी देड़ियों के बन्धन टूट चुके थे। पर भाई ! हमारे तो सूत के धागे भी नहीं टूटते हैं। हम क्यों गाते हैं भक्तामर स्तोत्र ?

परमात्मा कितने ही महान हैं, परमात्मा को मानने वाले मुनि कितने ही महान हैं लेकिन मुझे उससे क्या ? यह मैंने जान लिया। इस श्लोक की विशिष्टता यही है कि यह हमें जानने से मानने तक आगे बढ़ाता है। आचार्यश्री के साथ अभेद करने पर ही हम इन पदों को समझ सकेंगे और स्वीकार कर हमारे भीतर रहा परमात्मस्वरूप प्रकट कर पायेंगे।

कहते हैं, मुनि आपको मानते हैं। प्रश्न है, मुनि याने कौन ? कविश्री को हम यहा मुनि मानकर चलते हैं। अब वे कौन से मुनि की यहा बात करते हैं, जिसने परमात्मा को जैसे माना है वैसे मुझे मानना है ? त्वा शब्द के द्वारा—आमनन्ति शब्द के साथ हमारा सम्बन्ध स्थापित हो गया। आचार्यश्री के साथ अभेद करने पर हमारे साथ त्वा आयेगा। दूसरे श्लोक की तीसरी पंक्ति में “तं जिनेन्द्रम्” शब्द का प्रयोग हुआ है। त याने उन। उनका मतलब क्या ? कहने वाले के सामने जो नहीं है उन तृतीय पुरुष की बात करता है। त्वा कहते ही वे सामने हैं। तीसरे श्लोक के बाद ही यह परिवर्तन शुरू हो गया है और तब से वे Directly परमात्मा से ही बात करते आ रहे हैं।

मुनि किसे कहते हैं ? जिसने ससार का त्याग कर दिया क्या वे सब मुनि बन गये ? मुनि याने जिनके मन में यह ससार सिर्फ परमाणुओं की रूपांतर कथा मात्र है और कुछ नहीं। उनको यदि ससार की व्याख्या पूछी जाय तो वे इतना ही कहेंगे। ऐसे मुनि आपको जो मानते हैं वह आपका स्वरूप है।

आचार्यश्री की मान्यता को अब हम श्लोक के माध्यम से देखेंगे और हमारे स्वरूप में प्रकट करेंगे। तीन श्लोकों के माध्यम से यहाँ परमात्मा के २४ विशेषण प्रस्तुत किये हैं। तीर्थंकर भी २४ होते हैं और दिन के घटे भी २४ होते हैं। इस प्रकार २४ के साथ हमारा व्यावहारिक और आत्मिक सबंध रहा है। प्रतिघटे में एक-एक तीर्थंकर को प्रस्तुत विशेषणों से स्मरण करना यह भी एक आराधना का क्रम है। विशेषणों का सर्कल बनाले और एक के बाद दूसरे तीर्थंकरों से इसे संयुक्त करते जाएँ तो बड़ा आनंद आयेगा इस अनुष्ठान में।

- १ परमम् पुमासम्—आप परम पुमास हो। परम किसको कहते हैं ? जिनके लिये चरम और कुछ नहीं रहता है। चरम के बाद परम। जो पहले परम था, अभी परम है और जो परम रहने वाला है। परम वह कहलाता है जो जिसे भी मिले उसे परम बना देवे।
- २ आदित्यवर्ण—सूर्य के जैसी प्रभावाले। सूर्य का वर्णन कई बार आ चुका है। आचार्यश्री ने सूर्य और चन्द्र को महत्त्व देकर हमारे हृदय और बुद्धि के साथ इसका सम्बन्ध स्थापित किया है। साथ ही सूर्य का मणिपूर चक्र से साधना में भी सम्बन्ध स्थापित होता है।
- ३ अमलम्—निर्मल हो। सर्वथा कर्ममल से रहित हो। आपका जो स्मरण करता है वह भी निर्मल होता जाता है।
- ४ तमस परस्तात्—हे परमात्मा आप अन्धकार से परे हैं, और आपका जो स्मरण करता है वह भी अज्ञानरूप अन्धकार से परे हो जाता है। यहाँ परमात्मा को सिर्फ विशेष्य के रूप में ही न देखकर इनके साथ अभेद करने से हमारे जीवन में परिवर्तन आ सकता है। Power Contact में आयेगे तो Battery charge होगी, नहीं तो Battery down। जिस बिजली का Connection ही सही नहीं है वहाँ सिर्फ Bulbs का Decoration कुछ नहीं कर पाता है।
- ५ अब कहते हैं आप मृत्युजय हो और 'सम्यक् उपलभ्य मृत्यु जयन्ति'— तुमको जो भलीभाँति प्राप्त करते हैं वे मृत्यु को जीतते हैं। तुझे अच्छी तरह से प्राप्त करके—यहाँ भलीभाँति—सम्यक् याने अच्छी तरह से क्यों कहा ? परमात्मा को पाने का इससे अच्छा दूसरा तरीका भी कौन सा हो सकता है ?

परमात्मा के प्रति किये जानेवाले प्रेम भी दो तरह के हैं— 1 Sensitive और दूसरा Scientific प्रथम प्रेम मात्र अनुराग भरा होता है जिसमें व्यक्ति अपनी परिस्थितियों के

अनुसार भावनाओं का निर्माण कर परमात्मा से अपना प्रेम-संयोजन स्थापित करता है। इसमें परिस्थिति के हट जाने पर प्रेम में भी अभाव आना शुरू हो जाता है। दूसरे प्रेम में प्रेमी परिस्थितियों से ऊपर उठा हुआ होता है। परिस्थिति से उसे कोई मतलब नहीं, कोई सरोकार नहीं है। यहाँ सिर्फ परमात्मा के प्रति भक्तिपरक प्यार है। यह प्यार स्वयं एक अधिकार बन जाता है जहाँ किसी भी प्रकार की याचना या विवशता नहीं होती है। अध्यात्म विज्ञान से भरा प्रेम स्वयं एक प्रयोग है। इसे किसी और Guarantee की आवश्यकता नहीं होती है। परमात्मा के साथ ऐसे उत्तम प्रेम में उन्हें प्राप्त करना याने सम्यक् प्राप्त करना है।

क्या होता है इन्हें प्राप्त करके? यह प्रश्न साधना मार्ग में प्रवेश करने के पूर्व का है। जिनकी प्राप्ति की खोज की जा रही है, अनुसंधान चल रहा है वे आखिर कौन हैं और उन्हें प्राप्त कर क्या हो सकता है? इसका उत्तर भक्तामर स्तोत्र है, और उसकी सम्पूर्ण सार्थकता प्रस्तुत श्लोक की ये पंक्तियाँ हैं। जो कहती हैं कि परमात्मा को प्राप्त कर वह होता है जो ससार में अन्य कड़ियों को प्राप्त कर कभी नहीं होता है। हमने कड़ियों को प्राप्त किये पर उनसे वह नहीं पाया जो परमात्मा से प्राप्त करने पर पाया है। इसी झंझना में अनेक उपाय किये पर सारे निरर्थक रहे। मागलिक में इसीलिये 'सरण पव्वज्जामि' शब्द का प्रयोग होता है। मैं शरण का स्वीकार करता हूँ। स्वीकार तब होता है तब अन्य विकल्प नहीं रहते हैं।

अब कहते हैं उन्हें प्राप्त करने से होता क्या है? इसके उत्तर में कहा है—“मृत्यु जयन्ति” परमात्मा को प्राप्त करने से मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है। मृत्यु को जीतने के लिये कौन प्रयत्नशील नहीं है? मृत्यु पर विजय पाने के लिये अनेक निष्फल उपाय किये जाते हैं। परमात्मा स्वयं मृत्युजय हैं उन्हें प्राप्त करने वाला स्वयं मृत्युजय हो जाता है। परमात्मा की प्राप्ति स्वयं सजीवनी मंत्र है। मृत्यु पर विजय जन्म की विजय है। और जन्म पर विजय सारे ससार की विजय है।

प्रश्न होता है इन्हें प्राप्त कैसे किया जाय? इसका उत्तर भक्तामर स्तोत्र के प्रथम श्लोक के “सम्यक् प्रणम्य” शब्द द्वारा मिलता है। नमन तो हमने कई बार किये पर सम्यक् नहीं किये और इसी कारण परमात्मा भी हमें सम्यक् रूप से प्राप्त नहीं हुए। जैसे नमस्कार वैसी उपलब्धि। जब तक परमात्मा सम्यक् रूप से उपलब्ध नहीं होते हैं तब तक न तो मिथ्यात्व हटता है, न सत्य प्रकट होता है, न परमात्मा ही मिलते हैं। और जब यह सब कुछ न होगा तो देड़ियाँ कहा से टूटेंगी? प्रणाम करते हैं तब तक परमात्मा हम से अलग है, उसकी उपलब्धि होने पर हम ही परमात्मा हैं। परमात्मा के प्रति किये जानेवाले सम्यक् प्राप्ति से “भक्त-अमर” पद को प्राप्त करता है। पुनः याद करें ‘भक्तामर’ शब्द को। भक्त याने आत्मा अमर याने देव नहीं परंतु वह जिसने मृत्यु को जीत लिया है, जो मृत्यु से ऊपर उठा हुआ है। इसी को योगिराज आनंदघनजी कहते हैं—

अब हम अमर भये न मरेंगे
जा कारण मिथ्यात दियो तज
क्यूँकर देह धरेंगे। अब हम

मरते क्यों हैं ? इसका एक कारण बताते हैं आनदघनजी। प्रश्न होता है न कि व्यक्ति मरता क्यों है ? हमारे पास इसका एक ही उत्तर है कि मरना पड़ता है, नहीं चाहते हुए भी मरता है क्योंकि जन्म लिया है। प्रश्न है फिर जन्म क्यों लेते हैं ? —आनदघनजी इसका महत्वपूर्ण कारण प्रदान करते हैं। वह कारण यदि समझ लेगे तो मैं समझती हूँ कि हम सब उस व्याख्या/व्युत्पत्ति को समझकर हम भी कभी अमर पद प्राप्त कर लेगे। जिसको अमर होना होगा वे “अब हम अमर भये न मरेंगे” का अवश्य चिन्तन करेंगे।

अब हम अमर भये न मरेंगे
मर्यो अनंत बार बिन समझयो
अब सुख दुःख विसरेंगे
आनदघन प्रभु निपट अक्षर दो
नही समरे सो मरेंगे . अब हम

स्वयं को नहीं समझने के कारण ही मृत्यु होती है। परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करने से उस अमर स्थिति की उपलब्धि हो जाती है। अमर याने देव नहीं—परमात्मा, भक्त याने आत्मा। भक्त किसी देव पर आधारित नहीं है, वह स्वतंत्र तत्त्व है। इसीलिये जो मृत्यु से पर हो चुके, रागद्वेष से रहित हो चुके उन वीतरागी सच्चिदानंद परमात्मा के साथ आत्मा का जो सबंध स्थापित कर दे उस स्तोत्र का नाम है भक्तामर स्तोत्र। जो आत्मा को परमात्मा बना देता है। प्रत्येक भक्त इस अमर स्थिति को प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक आत्मा परमात्मा हो सकता है। “त्वामेव सम्यगुपलभ्य” कहकर यहा सत्त्व और परिणति का अभिषेक करते हैं। तुम्हें प्राप्त करने वाला अमर पद को प्राप्त कर लेता है। आ गई यहा भक्तामर शब्द की व्याख्या। यहा आकर यह शब्द सिद्ध हो जाता है।

“शिवपदस्य अन्य पथा न शिव ” कहकर और इसे स्पष्ट कर रहे हैं कि अमर बनने का, मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का, मुक्तिमार्ग का सम्यक् प्रणाम और सम्यक् उपलब्धि से बढ़कर अन्य दूसरा कोई मार्ग ‘शिव’ याने सुखकर/कल्याणकर नहीं है। परमात्मा को प्रणाम किये बिना उनकी प्राप्ति नहीं है। और उन्हें प्राप्त किये बिना सारे तप, जप या अन्य सारे ही अनुष्ठानरूप मार्ग अधूरे हैं।

इस अधूरेपन को मिटाने के लिये आचार्य परमात्मा का विशिष्ट स्वरूप प्रस्तुत कर रहे हैं। इसमें सापेक्ष दृष्टिकोणों को लेकर विविध धर्मों में परमात्मा के लिये प्रयुक्त उनके अनेक वाचक शब्द अभिधेय होते हैं। सभी वाच्य अर्थों से परमात्मा का स्वरूप सहज स्पष्ट है। इसे ही प्रयुक्त करते हुए कहा है—

- ६ परमात्मा आप अव्यय हो। अव्यय का मतलब क्या होता है? व्यय का मतलब समझे तो अव्यय समझ में आयेगा। व्यय का मतलब होता है खंडन, व्यय का मतलब होता है विनाश, व्यय का अर्थ होता है टुकड़ा, व्यय का मतलब होता है नाश और व्यय का मतलब होता है अनित्यता, अशाश्वतता। इन सबसे आप परे हो इसीलिए आप अव्यय हो। आप शाश्वत हो, नित्य हो, ध्रुव हो, अक्षय हो, अविनाशी हो, पूर्ण आत्मस्वरूप को आप उपलब्ध कर चुके हो। आपकी सर्वोपरि विशेषता है कि आप अव्यय की स्थिति को प्राप्त कर चुके हो और आप अव्यय की स्थिति को प्राप्त करा सकते हो।
- ७ आप विभु हो। विभु का अर्थ क्या होता है? विभु याने व्यापक। आप अपने अनंत ज्ञान और दर्शन के द्वारा इस सृष्टि लोक में व्याप्त हो। इस व्यापक सृष्टि में रहनेवाला कोई भी जीव आपके ज्ञान और दर्शन का आराधक होगा उसके अन्दर भी आप ज्ञान और दर्शन प्रकट करनेवाले हो। इसीलिये आप व्यापक हो। आप ज्ञान-दर्शन से भी व्यापक हो और प्रत्येक भक्त आत्मा के ज्ञान दर्शन को उजागर करने के कारण अन्तःकरण में बसने के कारण आप विभु हो।
- ८ आप अचिन्त्य हो। हम सभी मिलकर परमात्मा का चिन्तन करेंगे तो भी हम उनका चिन्तन नहीं कर सकते हैं, ऐसे वे अचिन्त्य हैं। आप अचिन्त्य तो हैं, पर हमारी आत्मा भी अचिन्त्य, अगम्य है इसे आप हम में प्रकट कर देते हो ऐसा हमारा आपका सबध है।
- ९ आगे कहा है आप असंख्य हैं। संख्यातीत हैं। आपके जिस किसी भी गुण को जिस किसी भी भक्त ने जीवन में उतार लिया है उसने आपका स्वरूप प्राप्त कर लिया। गुणों के द्वारा अनेक हृदयों में प्रतिष्ठित होने से आप असंख्य हैं।
- १० आगे कहते हैं आप आद्य हो। आद्य का मतलब क्या होता है प्रथम। यह आदिनाथ परमात्मा की स्तुति तो है ही। उनका तो मोक्ष हो चुका। अब ये हमारे आद्य कैसे हो सकते हैं? ससार का एक जीव जब मोक्ष में जाता है तब एक जीव अव्यवहार राशि से निकलकर व्यवहार राशि में आता है तब से हे परमात्मा! मेरे आत्मविकास की आदि के प्रथम मार्गदर्शक आप हो। साथ ही हे परमात्मा! मेरी भक्ति, प्रीति और अनन्य वात्सल्य के आप ही एक मात्र स्वामी हो। मेरी समस्त आराधना में, अनुष्ठान में प्रथम आप हो।
- ११ उसके बाद कहते हैं आप ब्रह्मा हो। ब्रह्मा आपको कहते हैं जिसने इस सृष्टि का विधान बनाया हो। परमात्मा आप मेरे मोक्ष मार्ग के विधाता हैं। इसीलिए आप मेरे ब्रह्मा हो।
- १२ आप ईश्वर हो। ईश्वर किसको कहते हैं जो ऐश्वर्य से युक्त हो। हे परमात्मन्! आप अनंत आत्मिक ऐश्वर्य के चिदानंद वीतराग स्वरूप ऐश्वर्य को प्राप्त कर चुके हो और अन्यो को प्राप्त कराने वाले हो।

१३ कहते हैं आप अनत हो। आपका ज्ञान अनन्त है। आपका दर्शन अनन्त है। आपके गुण अनन्त हैं। अनत अनत समृद्धि के आप भडार हो। अनत के हृदय में प्रतिष्ठित होकर आप अनत स्वरूप हो।

१४ अनगकेतु भी आप हो। परमात्मा विकार से रहित है। और हम विकार से युक्त हैं। हम कभी प्रार्थना की भाषा में कहते हैं—परमात्मा तू महान् है, हम लघु हैं। तू विकारो से रहित है, मैं विकार से युक्त हूँ। क्या मतलब होता है ऐसा कहने का ? भक्तामर स्तोत्र कहता है परमात्मा तू विकारो से रहित है और “त्वामेव सम्यगुपलभ्य” तू जिसको प्राप्त हो जाता है वह भी विकारो से रहित हो सकता है। यदि कोई साधक चाहता है कि मैं अपने स्वाभाविक स्वरूप को उजागर करूँ, विकार मुक्त हो जाऊँ तो परमात्मा का स्मरण कर वह विकार रहित हो सकता है। कल परसो कर्म सगोष्ठी में भार्गव साहब ने कहा था कि हमारे जैसे ससारी साधुओं को पूछते हैं क्या आप में विकार उत्पन्न नहीं होते हैं ? उन पूछनेवालों को मैं कहता हूँ अरे भाई विकारो की साधुओं में उत्पत्ति तो होती है पर अभिव्यक्ति नहीं होती। उत्पत्ति होते ही मार देते हैं। अभिव्यक्ति नहीं होने देते हैं। मैं उन्हें आज कहूँगी कि “सम्यगुपलभ्य”—जिस किसी भी साधु को मेरे परमात्मा सम्यक् प्रकार से प्राप्त हो चुके हैं उनमें विकार उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। जिनकी उत्पत्ति ही नहीं उनकी अभिव्यक्ति या उन्हें समाप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता। सासारिक दृष्टिकोण से इस बात की आप नहीं मोंनैगे, लेकिन जिसको अनुभूति है वह है और है। इसका कोई निराकरण शायद आपके पास नहीं हो सकता है। एक बात निश्चित है कि जब बन्दूक में बारूद या गोली न हो तो उसे कितनी ही बार घुमायी जाय, बजायी जाय पर उससे विस्फोट नहीं हो सकता है। बाहर का कोई भी पदार्थ व्यक्ति में विकृति पैदा नहीं कर सकता। विकार हमारी स्वय की कमजोरी से उत्पन्न हो सकते हैं। निर्विकार परमात्मा जिसको सम्यक् उपलभ्य हो जाते हैं उनमें विकार कभी भी प्रवेश नहीं कर सकते।

१५ अब कहते हैं—योगीश्वर। इसके दो अर्थ होते हैं— जो योगियों के ईश्वर हैं और जो योग के ईश्वर हैं। परमात्मा तो अयोगी केवली गुणस्थान के बाद आगे बढ़े हैं। कोई योग तो उनके रहे नहीं है फिर योगीश्वर उन्हें यहाँ क्यों कहा गया है ? कहते हैं परमात्मा आप तो अयोगी हो पर जो योग में रहते हैं उनकी क्या स्थिति है ? तो कहते हैं अपने योगों का जिन्होंने गोपन किया मतलब मन-वचन और काया की गुप्ति के जो धारक हैं हे प्रभु। आप उनके ईश्वर हो।

१६ तीन गुप्ति के धारक तो साधु-साध्वी होते हैं तो क्या आप उन्हीं के परमात्मा हो। इनके अतिरिक्त जो भक्त हैं उनका परमात्मा के साथ कैसे सबध होगा ?

इसीलिये आगे कहते हैं—“विदित योगम्”। विदित योग का क्या मतलब होता है? जिन्होंने तीनों योगों का गोपन नहीं किया है प्रभु। आप उनके योगों को भी विदित याने जानते हो, जाननेवाले हो। ससार के सभी जीवों के मन वचन और काया के आप ज्ञाता हो, द्रष्टा हो। मैं यह समझती हूँ कि परमात्मा के अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन को जिसने स्वीकार लिया है, मान लिया है उसके लिये ससार में ऐसा कोई एकान्त स्थान नहीं जहाँ वह पाप कर सके। उसकी दृष्टि में हर समय रहेगा कि वीतरागी, अनन्त ज्ञानी, अनन्त दर्शी मेरे सर्व योगों को जिसे ससार नहीं देखता उसे जानते और देखते हैं।

- १७ अब कहते हैं आप अनेक हैं। अनेक कैसे? परमात्मा! अनेकान्त धर्म की प्ररूपणा आपके बिना कौन कर सकता है? ससार के अनन्तधर्मी पदार्थों के अनेक स्वरूप के आप ज्ञाता और द्रष्टा हो। हम तो ससार को एक ही Angle से देखते हैं और जिस Angle से देखते हैं उसे उसी Angle से इतना सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि हमारे जैसा विद्वान् इस ससार में कोई नहीं है। लेकिन परमात्मा के अनेकान्त दर्शन की दृष्टि से देखेंगे तो समझेंगे कि परमात्मा अनन्त धर्म को एक पदार्थ में देखते हैं अतः एक ही पदार्थ अनेक रूपी, अनेक पर्याय नजर आता है।

दूसरी तरह से अनेक आत्माएँ परमात्मा स्वरूप हैं। इस प्रकार आप अनेक स्वरूप हैं।

- १८ अनेक कहने के बाद उलटा आ गया आप एक हो। अब एक कैसे हो सकते हैं? आत्मा का उपयोग स्वरूप एक है। यहाँ आकर हम और परमात्मा एक हैं। अतः बिलकुल अभेद हो गया। मेरे और तेरे में कोई भेद नहीं है। मेरे और तेरे का भेद टूट रहा है, जैसे द्रव्यरूप से आत्मा का स्वरूप मेरा है वैसा ही द्रव्यरूप से आत्म स्वरूप तेरा है। मेरे और तेरे आत्मस्वरूप में कोई अन्तर नहीं है।
- १९ आप ज्ञान स्वरूप हो। ज्ञानावरणीयादि सर्व कर्मों का क्षय होने से आपके समस्त आत्मप्रदेश विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं।
- २० अमलम् याने आप निर्मल हो। अन्त कर दिया है, समाप्त कर दिया है कर्म का मल जिसने ऐसे आप हो।
- २१ अब परमात्म स्वरूप को व्याख्यायित करनेवाली तीसरी गाथा का प्रारम्भ हो रहा है। “बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धिबोधात्” में कहते हैं “विबुधार्चित बुद्धिबोधात्”। देखिये अब एक मजे की बात कहूँ आपको। आप अपनी किताब के पन्ने खोलेंगे तो अर्थों के माध्यम से विबुधार्चित शब्द जो पहले भी तीसरे श्लोक में—“विबुधार्चित पादपीठ” रूप में आ चुका है। यहाँ है “विबुधार्चित बुद्धिबोधात्”। बुद्ध्या विनाऽपि की व्याख्या मैं हमने देखा था बुद्धि का मतलब

स्मृति। बुद्धि का मतलब हमारा अपना स्मरण। कोई कितना ही विद्वान हो लेकिन जिसे अपने स्वरूप का बोध नहीं है उसके ज्ञान की जैन दर्शन में कोई Value नहीं है। स्वय का बोध पाने के लिए हमारे तीर्थंकर मनीषी जब तक केवलज्ञान नहीं होता तब तक मौन रहते हैं और हमारे जैसे पाटे पर बैठकर बोलते रहते हैं। तो बुद्धिबोधात् का अर्थ होता है स्वय का बोध हो जाना। और, स्वय का बोध होने के साथ-साथ अब सबध करे विबुधार्चित का। बुद्धिबोधात् का मतलब परमात्मा से है परन्तु विबुधार्चित का मतलब किससे है? विबुधार्चित को इस पक्ति में पाकर हमारे विद्वान महानुभाव अर्थ करते हैं—गणधरो के द्वारा अर्चित, विद्वानों के द्वारा अर्चित।

मैं कहती हूँ तीसरे श्लोक में आपको यह अर्थ देने में क्या आपत्ति थी? लेकिन वहाँ पादपीठ शब्द पड़ा था इसलिये हमने देव अर्थ कर लिया। मैं आपसे पूछती हूँ आप जब परमात्मा के समवसरण में जाएँगे और जिस पादपीठ पर परमात्मा का पैर रहेगा क्या आप उसको नमस्कार नहीं करेंगे? क्या देव ही करेंगे, मानव नहीं? क्यों हम विबुध का अर्थ ऐसा करें? बोधिलाभ की प्राप्ति के लिये, सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिये जिस किसी ने भी प्रयास किया ऐसे विशिष्ट बुद्धिवाले विबुध होते हैं और उनके द्वारा आप अर्चित हो, पूजित हो। आप स्वय ज्ञान को उपलब्ध हो। इस प्रकार हमारे आपके सम्बन्ध से आप बुद्ध हो।

२२ अब कहते हैं “त्व शकरोऽसि भुवनत्रय शकरत्वात्” तीनो भुवन का शकर करने के कारण आप शकर हो। शकर शब्द का अर्थ है शम् करने के कारण आप शकर हो।

सम करते हैं अर्थात् समान करते हैं इसीलिये। सम किसमें करेंगे भक्तों में ही करेंगे न। जो भक्ति नहीं करते उनको सम नहीं करते मैं स्पष्ट कहती हूँ। भक्त को वे सम नहीं करते तो हम उनको मानते ही क्यों? हम उनको नमस्कार करते ही रहे, करते ही रहे और हमारे नमस्कार का यदि वे स्वीकार नहीं करते तो हम नमस्कार क्यों करेंगे? हम भक्तामर गाते ही रहे ‘त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्यु’ और हम यह कहते ही रहे क्षणात् क्षयमुपैति

तेरी प्रार्थना करने से क्षणभर में अनन्त पापों का क्षय हो जाता है और फिर भी क्षणमात्र पाप भी यदि सरकता न हो तो हम उनकी स्तुति क्यों करें? हम जिस Challenge से आगे बढ़ते हैं उसकी हमें यहाँ सम्पूर्ण खात्री मिलती है, Guarantee मिलती है कि वे शकर हैं। सम करते हैं इसलिये शकर होते हैं।

अब हम देखेंगे शम् याने जिसे वे करते हैं, वह शम् क्या है? शम् का अर्थ होता है कल्याण, मंगल, सुख, शान्ति, प्रसन्नता, आनन्द। परमात्मा इसके करनेवाले होने से शकर है।

सम का पहला अर्थ उत्पत्ति के अनुसार वे सम में केवलज्ञान, कल्याण, मंगल, सुख, शान्ति, प्रसन्नता, आनन्द की उत्पत्ति करनेवाले हैं।

शम् का दूसरा अर्थ शमन करना है। शमन करना, समाप्त करना, बुझा देना है। कहते हैं “शमन हो गया रोशनी का याने बुझा दी गई रोशनी या रोशनियाँ बुझ गयी।” परमात्मा किसका शमन करते हैं तो कहते हैं ससार के सारे अमगल का। शकर के वारे मे कहा जाता है समुद्र का जब मघन हुआ था उसमे से जहर और अमृत दोनो निकले थे। वे जहर तो सारा स्वय पी गये और देवो को अमृत बाटा। जो भी भक्त परमात्मा का स्मरण करता है उसके अमगल का नाश हो जाता है।

२३ अब कहते हैं “शिवमार्ग विधे विधानात् धाता असि”—हे परमात्मा। शिवमार्ग याने मोक्षमार्ग की विधि/विधान बताने के कारण आप विधाता भी हो।

२४ अब कहते हैं “त्वम् एव व्यक्त पुरुषोत्तम असि। आप व्यक्त पुरुषोत्तम हो। व्यक्त का मतलब क्या? व्यक्त याने प्रकट होने वाले। हम मे आप प्रकट होते हो, बाहर नहीं, हमारे भीतर। आत्मा में ही परमात्म पद रहा हुआ है। उसे भक्तामर स्तोत्र के द्वारा हम प्रकट करते जाएंगे। अतः हे परमात्मा। आपका परमात्म तत्त्व प्रकट हो चुका है और आप हम में उसे प्रकट करते हैं।

इस महान स्वरूप को मात्र सुनकर ही आराधना की पूर्णाहुति नहीं होती है, इसकी हमें सम्यक् उपलब्धि करनी है। इसका हमें स्वीकार करना है। स्वीकार स्वीय होता है। स्वय से संबंधित होता है। स्वीकार का सर्वश्रेष्ठ उपाय नमस्कार है। अध्यात्म की भाषा मे नमस्कार करना शक्ति को निमंत्रण देना है। जो झुकता है, वह पाता है।

नमस्कार कर्तव्य नहीं, भाव है। यदि आपको कोई पूछे कि आप नमस्कार मंत्र क्यों बोलते हो? तो आप क्या उत्तर देंगे? मैं जैन हूँ, मेरा कर्तव्य है नमस्कार मंत्र बोलने का। मेरा कर्तव्य है नमस्कृत्य को नमस्कार करने का। करना चाहिये इसलिये करता हूँ। बोलना चाहिये इसलिये बोलता हूँ। इस प्रकार करना चाहिये, या करना पडता है इसलिये किया जानेवाला नमस्कार व्यर्थ है। पर, इसका सही उत्तर है—परमात्मा नमस्कृत्य है, मेरा ही स्वरूप है, परम स्वरूप है। नमस्कार करता नहीं, उनको देखकर मुझसे नमस्कार हो जाते हैं। नमस्कार मेरे समर्पण का प्रतीक है। इसीलिये मंत्र में ‘नमामि अरहताण’ नहीं ‘नमो अरहताण’ है। भावों के साथ व गीली पलकों के साथ नमा हुआ मस्तक नमन है। ऐसे ही नमस्कार से देडिया टूटती है, ऐसे ही नमस्कार से पाप छूटते हैं और ऐसे ही नमस्कार से स्वत्य प्रकट होता है। नमस्कार समर्पण का अन्तिम अध्याय है। ऐसे ही भावों के साथ आज हम आचार्यश्री के साथ अग्ने परम आराध्य को नमस्कार करेंगे।

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नमः!

तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणायै!

तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय!

तुभ्यं नमो जिन! भवोदधि-शोषणाय ॥ २६ ॥

नाथ।	— हे नाथ।
त्रिभुवनार्तिहराय	— तीनों लोको की पीड़ा-व्यथा-वेदना-कष्ट को हरण करने वाले
तुभ्यम्	— तुम्हें-तुमको
नम	— नमस्कार हो
क्षितितलामलभूषणाय	— पृथ्वी तल के निर्मल-उज्ज्वल अलंकार रूप
तुभ्यम्	— तुम्हें/तुमको
नम	— नमस्कार हो
त्रिजगत	— तीन जगत के
परमेश्वराय	— परम पद में स्थित अरहत प्रभु
तुभ्यम्	— तुम्हें/तुमको
नम	— नमस्कार हो
जिन	— जिनेश्वर
भवोदधिशोषणाय	— भवरूपी समुद्र या समुद्र जितने विशाल भवों का शोषण करने वाले
तुभ्यम्	— तुम्हें/तुमको
नम	— नमस्कार हो।

हे नाथ! आप तीनों लोको की अर्ति याने पीड़ा, व्यथा, वेदना, यातनाओं का हर-याने हरण करने वाले हो। कितना बड़ा चमत्कार! भावपूर्वक नमस्कार से सर्व दुःखों का नाश। सिर्फ दुःख का नाश ही नहीं करते हैं आप क्षिति के निर्मल अलंकार हो। हमारी शोभा हो, सुख और आनंद के कारण हो। परम ऐश्वर्य स्वरूप हो और समुद्र जितने विशाल अनेक भवों का शोषण कर सहज सिद्ध स्वरूप की प्राप्ति करने वाले हो। ऐसे हे परमात्मा! आपको पुन-पुन नमस्कार हो।

भावपूर्वक इन नमस्कार से परमात्मा के गुण हममें प्रकट होते हैं और दोषों का क्षय होता है। अतः कहते हैं—

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं सश्रितो निरवकाशतया मुनीश।
दोषैरुपात्त-विविधाश्रय-जात-गर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥ २७ ॥

मुनीश।	— हे मुनीश्वर।
यदि नाम	— हमें ऐसा लगता है कि

निरवकाशतया	— सघनता से, ठसाठस, अवकाश रहित
अशेषै गुणै	— समग्र गुणों से
त्व सश्रित	— आप आश्रित हो
अत्र को विस्मय	— इसमें क्या आश्चर्य है
उपात्तविविधाश्रयजातगर्वै	— अनेक स्थानों पर आश्रय प्राप्त करने से जिनको गर्व (घमड) हो रहा है ऐसे वे
दोषै	— दोषों से — अवगुणों से
कदाचित् अपि	— कोई भी समय — किसी भी समय
स्वप्नान्तरे अपि	— स्वप्न और प्रतिस्वप्नावस्थाओं में भी
न ईक्षित असि	— नहीं देखे गये हो
(अत्र को विस्मय)	— तो इसमें क्या आश्चर्य है

परमात्मा के अनन्त गुणों को इस गाथा में 'निरवकाशतया' शब्द से व्याख्यायित किये हैं। निरंतर रूप सर्वांगव्यापी गुणों को परमात्मा का आश्रय स्थान बताकर परम का परम स्वरूप बताया। दूषणों को बेचारे बताये जो स्वप्न में भी परमात्मा के पास नहीं आ सकते हैं। ऊर्ध्वीकरण Sublimation द्वारा आत्मिक गुणों का विकास करने के लिए परमात्मा की हम भी शरण ग्रहण करते हैं।

पूर्ण भावों के साथ किये गये नमस्कार और शरण ग्रहण से आत्मिक वैभव उजागर होता है। परमात्मा के बाह्य वैभव की हम अपने अन्तर् में प्रतिष्ठा कर आत्म-वैभव कैसे वर्धमान करें, इसके लिये अब हम आगे के श्लोको को "वैभव" नामक प्रवचन से देखेंगे।



१५. वैभव

“वैभव” शब्द बड़ा आकर्षक, मोहक और नैतिक शब्द है। इसके मूल में “विभु” शब्द निहित है। अधिकांश विभु को भूलकर हम वैभव के जिन आयामों या रूपों की परिकल्पना करते हैं वे मात्र व्यावहारिक स्तर पर-निर्भर हैं। वास्तव में वैभव को समझने के लिए विभु को समझना आवश्यक है। इतना और अधिक कहूँ तो वैभव पाने के लिए विभु बनना जरूरी है। विभु बनकर ही वैभव पाया जाता है। ऐसा वैभव जीवन की एक अप्रतिम उपलब्धि है।

मनुष्य अनेक साधनों को जुटाता है और उन जुटाये गये साधनों के द्वारा स्वयं के अधिकारों की सुरक्षा चाहता है। ऐसा वैभव बाहर से तो बड़ा आकर्षक और मनोहर लगता है परन्तु यह आकर्षण सार्वभौम नहीं हो सकता। सीमाओं में बँधा वैभव असीम से कैसे मिलता है? वह आकर्षणों की मर्यादा में बँधा हुआ पदार्थों के माध्यम से संयोजन स्थापित करने का प्रयास करता है। सामाजिक मूल्यांकनों की सीमा में बंधा मानव इन वैभव के मूल्यों को और महत्त्वों को मान तो लेता है, स्वीकार भी लेता है परन्तु संयोजित नहीं करता है। जिसका संयोजन नहीं होता, उसकी याचना होती है। याचना की परिस्थिति सदा वैभव से विरुद्ध रही है।

वैभव दो हैं—आन्तरिक और बाह्य। विकसित हुआ आन्तरिक वैभव बाह्य वैभव को प्रकट करता है। सामान्यतः बाह्य वैभव निर्मूल्य होता है तथापि आन्तरिक वैभव उस बाह्य वैभव का मूल्यांकन भी बढ़ा देता है। परमात्मा के लिए परमात्मपन स्वयं में एक वैभव है। परन्तु भक्तामर स्तोत्र यह सिद्ध कर देता है कि भक्त के लिए उसकी भक्ति भी एक बहुत बड़ा वैभव है जो परमात्मपने के वैभव से कुछ कम नहीं है। बाह्य मूल्यांकनों के द्वारा आन्तरिक आत्म-वैभव का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है।

प्रारंभ के २७ पद्यों द्वारा परमात्मा के आन्तरिक वैभव का विस्तार से वर्णन आ चुका है। अब आनेवाली १० गाथाओं में परमात्मा के बाह्य वैभव को प्रस्तुत किया जा रहा है। परमात्मा का इस बाह्य वैभव से कोई अर्थ/सम्बन्ध नहीं है। यह बात भी निश्चित है कि इस बाह्य वैभव से ही परमात्मा को महान मान लेना भक्ति का अधूरापन है।

प्रस्तुत पद्य में वक्तव्य परमात्मा का वैभव प्रातिहार्य के नाम से प्रसिद्ध है। जैन भक्ति परंपरा में इन प्रातिहार्यों को तीर्थंकर परमात्मा के विशेष महिमा-बोधक चिन्हों के रूप में माने गये हैं। इस महिमा को महत्त्व देकर कई स्थानों पर इनका विशेषण के रूप में भी उपयोग किया गया है जैसे—

तिजयपहुत पयासय अङ्ग-महापडिहेरजुत्ताण- -

इन अष्टमहाप्रातिहार्यों को परमात्मा की प्रमुख आराधना का प्रतीक मानकर इन्हें विशिष्ट महत्त्व दिया गया है।

इन आठ महाप्रातिहार्यों को क्रमशः आठ महाऋद्धि के दाता या प्रतीक भी माना है। जैसे—

१ धृति - धैर्य, २ मति- ३ कीर्ति - प्रतिष्ठा ४ कांति - सर्वत्रप्रियता, ५ बुद्धि-चातुर्य सम्पन्न ६ लक्ष्मी -अर्थ वैभव, ७ मेधा -प्रज्ञा ८ विद्यासाधन - ज्ञान सम्बन्ध।

प्राचीन जैन मान्यता के अनुसार तीर्थंकरों को केवलज्ञान उत्पन्न होते ही इन्द्र-प्रतिहार आकर अशोकवृक्ष, चामर, छत्र आदि आठ प्रातिहार्यों का निर्माण करते हैं जो नियमित रूप से परमात्मा के साथ रहते हैं। पूर्णज्ञान स्थिति से सम्पन्न परमात्मा का स्तुतिगान करनेवाले आचार्यश्री भी आज इसे पूर्णाभिव्यक्ति देकर भक्तामर स्तोत्र को सजा रहे हैं। गहराई से इनका चिन्तन करने पर अनुभव होता है कि आचार्यश्री देवनिर्मित प्रातिहार्यों को लक्ष्य में रखकर अपने हृदय में प्रतिष्ठित परमात्मा को नयी चुनौती दे रहे हैं। मैं न तो देव हूँ और न तो ऐसे प्रातिहार्यों का निर्माण करता हूँ। परन्तु मेरी तो समस्त चेतनाएँ आपको सदा मौन निमग्न देती रही हैं। मेरी समस्त आत्मिक अभिव्यक्तियाँ अपने भावों के माध्यम में आपका आह्वान करती रही हैं। भक्ति की चरम सीमा में भावों का संयोजन पाकर इन देव-निर्मित पौद्गलिक प्रातिहार्यों के साथ प्रतिस्पर्धा में उतर कर स्वीकृति को चुनौती दे रहे हैं—

उच्चैरशोकतरु-सश्रितमुन्मयूख

माभाति रूपममल भवतो नितान्तम्।

स्पष्टोल्लसत्किरणमस्त-तमो-वितानं,

बिम्ब रवेरिव पयोधर पार्श्ववर्ति ॥ २८ ॥

उच्चै	— अत्यंत ऊँचे
अशोकतरुसश्रितम्	— अशोक वृक्ष के आश्रय में विराजमान
उन्मयूखम्	— ऊपर की ओर देदीप्यमान किरणों को बिखराने वाला ऐसा
भवत	— आपका
अमलम्-रूपम्	— निर्मल रूप, उज्ज्वल रूप
स्पष्टोल्लसत् किरणम्	— स्पष्ट रूप से ऊपर की ओर चमकती-दमकती हुई दीप्तिमान किरणों वाला
अस्ततमोवितानम्	— नष्ट कर दिया है समस्त अन्धकार के जाल को जिसने ऐसे

आविष्कार कर भक्तात्मा अत्यन्त धनसमूह श्यामल कर्म समुदाय को आत्मप्रदेशों से निर्जरित करता है। फलतः ध्यान के इस बाह्य आलबन द्वारा निज स्वरूप का दर्शन होता है।

भावनाओं के विशाल अशोक वृक्ष की रचना होते ही परमात्मा को प्रतिष्ठित करने का आसन ध्यान-पटल पर आता है और इसे देख आचार्यश्री कहते हैं—

सिहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम्।
बिम्ब वियद्विलसदशुलतावितान,
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मे ॥२९॥

- | | | |
|------------------------|---|---|
| मणिमयूखशिखाविचित्रे | — | मणियों की किरणों के अग्रभाग से विविध रग वाले |
| सिहासने | — | सिहासन पर |
| कनकावदातम् | — | स्वर्ण जैसा सुन्दर |
| तव वपुः | — | तुम्हारा शरीर |
| तुङ्गोदयाद्रिशिरसि | — | उन्नत उदयाचल के शिखर पर |
| वियद्विलसदशुलतावितानम् | — | जिसकी किरणों का विस्तार आकाश में शोभायमान हो रहा है (ऐसे) |
| सहस्ररश्मे | — | सूर्य के |
| बिम्बम् इव | — | बिम्ब याने मडल के समान |
| विभ्राजते | — | सुशोभित हो रहा है |

सिहासन का वास्तविक अर्थ है उत्कृष्ट विशुद्ध पुण्यासन। वैसे तो परमात्मा अपने निजस्वरूप में, परम स्वरूप में सदा प्रतिष्ठित रहते हैं। फिर भी यहां एक विशेष सिहासन पर परमात्मा के विराजने का जो वर्णन है यह भक्त के साथ एक विशेष भावात्मक सम्बन्ध की प्रतीक योजना है। भक्ति की स्थिति में प्रत्येक भक्तात्मा का भावमण्डल परमात्मा के विराजने का एक उत्कृष्ट आसन है।

अब हम परमार्थ से इसे देखेंगे—मणि याने नाभि और मयूख याने किरणें, शिखा याने अग्रभाग विचित्रे याने विविध। —परमार्थ से इन शब्दों की व्याख्या से अभिप्राय है—मणिपूर चक्र जो नाभि में स्थित है वहां से भावों की विविध विशेष किरणें प्रस्फुटित होकर ऊपर की ओर आरोहण करती हैं। इन किरणों का अग्रभाग हृदय को छूता हुआ पूरी चेतना में फैल जाता है। ऐसा यह भक्ति भाव का सिहासन जो नाभि में स्थित है उस पर भक्तात्मा परमात्मा को प्रतिष्ठित करता है।

अब और आगे बढ़े—कहते हैं—हे परमात्मा! ऐसे इस भावासन पर आपके विराजने से मेरा नाभिमण्डल रूप सिंहासन अत्यन्त सुशोभित हो रहा है। अब यहाँ से उठने वाली विविध भावनाओं वाली किरणों की शिखा आपमय होकर संपूर्ण चेतना में व्याप्त हो रही है। प्रभु! सम्पूर्ण आत्मप्रदेश पवित्र हो रहे हैं।

सिंहासन पर परमात्मा के प्रतिष्ठित होते ही उन पर शुभ्र चँवर ढुलाये जाते हैं। मानस चक्षुओं द्वारा इन चँवरो का ध्यान आते ही मुनिश्री के मुह से निकला—

कुन्दावदात-चलचामर-चारु-शोभ,
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम्।
उद्यच्छशाङ्क-शुचिनिर्झर-वारिधार-
मुच्चैस्तट सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥३०॥

कुन्दावदात-चलचामर-चारुशोभम्	— कुन्द नामक पुष्प के समान अत्यन्त शुभ्र दुरते हुए चँवरो के कारण सुशोभित
कलधौतकान्तम्	— स्वर्ण के समान कान्तिवाला
तव वपुः	— आपका शरीर
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधारम्	— उदीयमान चन्द्रमा के समान धवल शुभ्र-श्वेत जलप्रपात की धारा जहाँ गिर रही है ऐसे
सुरगिरे	— सुमेरु पर्वत के
शातकौम्भम्	— स्वर्णिम्
उच्चैस्तटम्	— उन्नत तटों के समान
विभ्राजते	— शोभा देता है।

हे परमात्मा! आपका स्वर्णिम देह दुरते हुए चमरो से उसी भाँति शोभा दे रहा है जैसे स्वर्णमय सुमेरु पर्वत पर दो निर्मल जल के झरने झर रहे हैं।

परमात्मा! आपकी आत्मा में परम शांत आनंद का एक झरना निरन्तर बह रहा है। उस अखंड स्रोत में मेरी समस्त भाव रश्मियाँ आत्म विभोर हो रही हैं। हे परम स्वरूप! आज अत्यन्त भावपूर्ण शुभ्र भावयुक्त नमस्कार-रूप चँवर ढुला रहा हूँ। तेरे चरणों में झुककर भावों की गहराई में उतरता हूँ और पुनः ऊपर उठकर अपने उच्च शुद्ध निजस्वरूप का दर्शन करता हूँ।

चमर के साथ ही देदीप्यमान तीन छत्रों के द्वारा परमात्मा के तीनों जगत के प्रति रहे परमेश्वरत्व को प्रकट किया जा रहा है—

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त-
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम्।

मुक्ताफल-प्रकरजाल-विवृद्धशोभ,
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥ ३१ ॥

- शशाङ्कान्तम् — चन्द्रमा के समान उज्ज्वल
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम् — मणि मुक्ताओं के समूह की झालरो से बढ़ गई है शोभा जिसकी ऐसे
तव उच्चैः स्थितम् — आपके ऊपर स्थित
स्थगितभानुकरप्रतापम् — रोक दिया है सूर्य की किरणों का आतप जिन्होंने ऐसे
छत्रत्रयम् — (एक के ऊपर एक क्रमशः) तीन छत्र
त्रिजगत — तीनों लोको के
परमेश्वरत्वम् — परमेश्वरपने को
प्रख्यापयत् — प्रख्यात करते हुए, प्रकट करते हुए
विभाति — शोभायमान हो रहे हैं।

हे परमात्मा! अंतरिक्ष में रहे निरालबी तीन छत्र के दर्शन होते ही मेरा भव-ताप समाप्त हो रहा है। आपकी परम शांत मुद्रा को अतः करण में धारण कर प्रभु भक्ति के आवेश में अपने मन-वचन और काया के तीन छत्र बनाकर तीनों योगों द्वारा तेरा विशुद्ध अयोग दर्शन पा रहा हूँ। ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की रत्नत्रय रूप मिली तेरे पावन सौगात स्वरूप छत्रत्रय प्रभु मेरे परम सौभाग्य का अवसर है।

छत्रत्रय में परमात्मा की स्थापना होते ही स्वरूप ध्यान की एकाग्रता में परमात्मा की जयघोषणा का एक दुन्दुभिनाद उठता है—

गम्भीरताररवपूरित-दिग्विभाग-
त्रैलोक्यलोक-शुभसङ्गम-भूतिदक्षः।
सद्धर्मराजजय-घोषण-घोषक सन्
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥ ३२ ॥

- गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग — गम्भीर-धीरोदात्त-मधुर ध्वनि से गुजायमान दिग्मण्डल जिसने ऐसा . . .
त्रैलोक्यलोकशुभसङ्गमभूतिदक्ष — तीनों लोकों के प्राणियों को सत्समागम (शुभ-सम्मेलन) का वैभव प्राप्त कराने में समर्थ, ऐसा .
सद्धर्मराजजयघोषणघोषक — सद्धर्मराज याने तीर्थङ्कर देवों का जय-जयकार की उद्घोषणा करता हुआ

गन्धोदबिन्दु-शुभमन्दमरुत्प्रपाता,
दिव्या दिव पतति ते वचसा ततिर्वा ॥३३॥

गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता	— सुगंधित जल की बूंदों से युक्त एव सुखद मन्द-मन्द पवन के झोको के साथ गिरनेवाली
उद्धा	— ऊर्ध्वमुखी—ऊपर को मुख है जिसका ऐसी
दिव्या	— देवलोकोत्पन्न, पारमार्थिकी
मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात	— मदार, सुन्दर, नमेरु, पारिजात तथा
सन्तानकादिकुसुमोत्कर वृष्टि	सन्तानक आदि वृक्षों के फूलों की वर्षा

दिव	— आकाश से
पतति	— गिरती है
वा	— अथवा/मानो
ते	— आपके
वचसां	— वचनों की
तति	— पंक्ति हो
पतति	— फैलती है

हे परमात्मा! मानो आपके वचनों की साक्षात् पंक्ति रूप दिव्य फूलों की निरन्तर वर्षा होती है। यह वर्षा शीतल-मन्द-सुगंध समीर के साथ महक फैलाती है।

भक्त द्वारा श्रद्धा के फूल परमात्मा के चरणों में चढ़ाने से उसकी आत्मा का आवरण हटा है और तुरन्त ही ऊर्ध्वलोक की विशेष वृक्षावली से सम्बन्धित वे फूल आत्मलोक के वास्तविक फूल बनकर वास्तविकता प्रकट करते हैं, आत्मिक गुण बढ़ाते हैं।

जैसे—उद्धा शब्द भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ऊर्ध्वमुखी। ऊर्ध्वमुखी याने समवसरण में जो फूल बरसते हैं उनके डठल नीचे (अधोमुखी) रहते हैं। अत्यंत परमार्थ से भरा यह उद्धा शब्द भव्य जीवों का प्रतीक है। समवसरण में आनेवाले भक्तात्मा फूलवत् हैं। जो भी आता है ऊर्ध्वगामी-स्थिति को पा जाता है। पतित भी पावन होता है। इस प्रकार प्रत्येक चेतन आत्मा के विकास का अभियान यह “उद्धा” शब्द है।

हे परमात्मा! इन विशेष पुष्पों को प्राप्त करनेवाला सचमुच भाग्यशाली है। परमात्मा! तू देवाधिदेव तरु है। तेरे वाणी रूप पुष्पों के साथ इन दैवीय फूलों की तुलना कर मुझ में पारमार्थिक फूलों का प्रादुर्भाव हो जाता है। जैसे—

दैवीय फूल

वाणी पुष्प

प्रोद्यद्दिवाकर-निरन्तर-भूरि-सख्या
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ॥ ३४ ॥

- प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसख्या — प्रकृष्ट रूप से एक साथ ही पास-पास उदय होने वाले अनेक सूर्यों के समान
- ते विभो — हे प्रभो! तुम्हारे
- शुम्भलभावलयभूरिविभा — नितान्त शोभनीक प्रभा-मण्डल (भा-कान्ति, उसका मण्डल-गोलाकार-वह भामण्डल) की अतिशय जगमगाती हुई ज्योति
- लोकत्रयद्युतिमताम् — तीनों लोको के सभी दीप्तिमान पदार्थों की
- द्युतिम् — द्युति को
- अक्षिपन्ती — पराजित/निरस्त करती हुई।
- सोमसौम्या अपि — चन्द्रमा सदृश सौम्य-शीतल होने पर भी
- दीप्त्या — अपनी कान्ति से
- निशाम् अपि — रात्रि को भी
- जयति — जीतती है।

• अनेक सूर्यों के समान तेजस्वी, फिर भी उष्णता, प्रचण्डता और आतप से सर्वथा रहित ऐसे भामण्डल की प्रभा का निखार इसमें प्रस्तुत किया है। भामण्डल के लिए यहाँ प्रभावलय शब्द का प्रयोग किया है।

यह भामण्डल किसी धातु विशेष से निर्मित नहीं होता है। यह पौद्गलिक तैजस् शरीर का स्वरूप है। सूक्ष्मतम तैजस् वर्गणाओ से यह निर्मित होता है।

वस्तुतः यह व्यक्ति की समस्त भावधारा की समायोजना का एक रूप है परन्तु इसे विशेष और सामान्य तौर पर दो भागों में विभाजित किया जाता है।

Occult Science के अनुसार भा-मण्डल [Halo] यह महान व्यक्तियों के सिर के पीछे गोलाकार में पीले रंग के चक्र जैसा होता है। तीर्थंकरों का प्रभावलय उनकी परम औदारिक अनुपम देह से निकलती हुई कैवल्यरश्मियों का वर्तुलाकार मंडल है। उनकी दिव्यप्रभा के आगे कोटि कोटि सूर्यों का प्रभाव भी हतप्रभ हो जाता है। सामान्य व्यक्तियों में यह इतना तेजस्वी और पीले रंग में चक्राकार रूप नहीं होता है। सामान्य व्यक्तियों के पीछे पायी जानेवाली भावधारा को आभा-मंडल [Aura] कहते हैं। यह सबल और निर्बल दो तरह का होता है। जिनका चरित्र अच्छा हो, जिनका आत्मबल अधिक हो उनका Aura (आभामंडल) सबल और जिसकी नैतिक भावधारा हीन हो उसका आभामंडल [Aura] निर्बल होता है। यह व्यक्ति की भावधारा का प्रतीक है।

सामान्य व्यक्तियों का आभामंडल परिवर्तनशील होता है। यह भावधारा नित्य बदलती रहती है। व्यक्ति की भावधारा में यह परिवर्तन आकर्षण-विकर्षण के कारण होता है। बाह्य तत्त्वों के प्रभाव में व्यक्ति अपनी नियत भावधारा में नहीं रहता है। सृष्टि के तत्त्व सतत उसकी भावधारा पर सक्रमण कर उसे विचलित करते रहते हैं।

असामान्य और निर्मल भावधारावाले व्यक्तियों पर अशुद्ध वायुमंडल का सक्रमण नहीं होता है। यह अपने आप में इतना सशक्त होता है कि यह अन्य भावधारा से प्रभावित नहीं होता, बल्कि यह अधिक बलवान होकर स्वयं अन्यो को अपने से प्रभावित भी करता है। सम्पूर्ण वायुमंडल को तरंगित कर रूपांतरित करता है। यही कारण है कि महापुरुषों का सान्निध्य हमें अल्पा तरंगों से प्रभावित कर प्रसन्नता प्रदान करता है। इसमें से निकलती हुई तैजस्-रश्मियाँ अलौकिक और शान्त होती हैं।

एक ऐसी भी मान्यता है कि तीर्थंकरों के भामंडल की निर्मल प्रतिच्छाया में भव्यात्मा अपने पूर्वजन्म के तीन भव वर्तमान का एक और आगामी जन्म के तीन भव ऐसे सात भवों को देख सकता है।

नित्य उदित सृष्टि के सूर्य की किरणों विशेष काच में सन्निहित कर लेने पर उस पर Solar Rays (सूर्य किरणों) ऊर्जा के रूप में तरंगित होकर आज अनेक कार्यों में प्रगतिमय विकास का रूप ले रही है। तीर्थंकरों का भामंडल चैतन्य ऊर्जा से आदोलित होता है। अतः इसके दर्शन से हमारी आवृत चेतनाशक्ति का शुद्ध मतिज्ञान श्रुतज्ञान के रूप में अनावृत होकर विशुद्ध जातिस्मृति ज्ञान के रूप में फलितार्थ होना सहज है।

भामण्डल के चिन्तन में लीन आचार्यश्री को अचानक दिव्यध्वनि की सघन गर्जना सुनायी देती है और वे कहते हैं—

स्वर्गापवर्ग-गममार्ग-विमार्गणेष्व
सद्धर्म-तत्त्व-कथनैक-पटुस्त्रिलोक्या ।
दिव्यध्वनि-र्भवति ते विशदार्थसर्व-
भाषास्वभाव-परिणाम-गुणैः प्रयोज्यः ॥ ३५ ॥

स्वर्ग	— देवलोक
अपवर्ग	— निर्वाण लोक को
गममार्ग	— जाने के लिए
विमार्गणेष्व	— बताने में अभीष्ट-सहायक
त्रिलोक्या	— तीनों लोकों को
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटु	— सम्यक् धर्म के तत्त्वों के कथन करने में निपुण
विशद्	— विस्तृत, स्पष्ट

अर्थ	— पदार्थों (द्रव्य गुण पर्याय और उनके भाव) को बताने में सक्षम तथा
सर्वभाषा	— सभी भाषाओं के
स्वभाव	— गुण को
परिणाम	— परिणत होने के
गुणै	गुणों से
प्रयोज्य	— युक्त
ते	— आपकी
दिव्यध्वनि	— अलौकिक वाणी
भवति	— होती है।

अनादिकालीन वासना, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, अशुभयोग, अनध्यवसाय, सशयादि का सर्वथा नाश करने में समर्थ परमात्मा की दिव्यवाणी भव्यजीवों के भवसमाहार का सबल साधन है। मालकोष राग में दी जानेवाली इस देशना में सर्व जीवसृष्टि की रक्षा सन्दर्भित रहती है। इसीलिये प्रश्नव्याकरण सूत्र में कहा है—

सर्वजगज्जीव-रक्षणदयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय अत्तहिय पेच्चाभविय आगमेसिभदं सुद्ध णेयाउय अकुडिल अणुत्तरं सर्वदुक्खपावाणविउसमण—

यह प्रवचन भगवान् ने जगत् के समस्त जीवों की रक्षा—दया के लिए समीचीन रूप में कहा है। यह प्रवचन आत्मा के लिए हितकर है, परलोक—आगामी जन्मों में शुद्ध फल के रूप में परिणत होने से भव्य है तथा भविष्यत् काल में भी कल्याणकर है—निर्दोष है और दोषों से मुक्त रखनेवाला है, न्याययुक्त है, अकुटिल है, अनुत्तर-सर्वोत्तम है तथा समस्त दुःखों और पापों को उपशान्त करनेवाला है।

देव-देविया, मनुष्य-स्त्री-पुरुष या अन्य जो भी जीव परमात्मा की देशना में आते हैं उन सर्व की अपनी-अपनी भाषा और भावों में यह तद्रूप परिणत होती जाती है। यह देशना अर्द्धमागधी में होने पर भी १८ लौकिक भाषा और ७०० लघु-भाषाओं में आसानी से संयोजित हो जाती है।

पहले तो लोग इस तथ्य में आशंकित होते थे परन्तु आज भी यू एन ओ में कोई भाषण होता है तो वह अपने आप पाँच भाषाओं में अनुवादित हो जाता है।

१ रशियन २ अंग्रेजी ३ जर्मन ४ चाइनिश ५ फ्रेंच

देशना की सर्वोपरि विशेषता यही है कि यह सदा समस्त तत्त्वों और तत्त्वों के अर्थों से गर्भित रहती है।

दिव्यध्वनि में स्पंदित भक्त के मानस चक्षुओं में दैवीय सुवर्णकमल का अवतरण होता है—

उन्निद्रहेमनवपङ्कज-पुञ्जकान्ति
पर्युल्लसन्नख मयूख-शिखाभिरामौ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र। धत्तः,
पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति ॥३६॥

जिनेन्द्र।	— हे जिनेन्द्र।
उन्निद्रहेमनवपङ्कजपुञ्जकान्ति	— ताजे खिले हुए सुवर्ण कमल के समूह के समान सुन्दर कान्ति को धारण करने वाले
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ	— सब ओर तरंगित नखों की कान्तिमान किरणों की अग्रभागीय आभा से मनोहर
तव पादौ	— आपके युगल चरण
यत्र	— जहाँ
पदानि	— कदम
धत्त	— रखे जाते हैं
तत्र	— वहाँ
विबुधा	— देव-समुदाय
पद्मानि	— कमलों को
परिकल्पयन्ति	— रचते जाते हैं, विकुर्वित करते जाते हैं।

समवसरण की धर्मसभा में देव समुदाय—विकुर्वित खिले हुए नूतन स्वर्ण-कमलों की रचना करते हैं। अनन्त चतुष्टय के स्वामी, चौतीस अतिशयो से युक्त, अष्ट महाप्रतिहार्य और नव केवल लब्धियों के धनी अरिहत परमात्मा स्वर्ण-कमलों पर चरण रखकर पधारते हैं। वीतरागता से व्याप्त सम्पूर्ण वातावरण परमात्मा के पधारने से परमानन्दमय हो जाता है। सहजात्मस्वरूप की अतरंग और बाह्य विभूति तीनों लोकों के जीवों के आकर्षण का एकमात्र आधार बन जाती है। भाव विभोर युक्त तरंगों से लहराते विशुद्ध वायुमण्डल में ऊर्ध्व गुरुत्वाकर्षण के स्पन्द धर्म सत्ता की महाघोषणा फैला रहे हैं। पवित्र पर्यावरण आत्मप्रदेशों में कपन फैलाकर समस्त चेतना को ऊर्ध्वमुखी बनाता है।

विबुधा शब्द पुनः हमारा ध्यान देव से भक्तों की तरफ जोड़ देता है और भक्तात्मा परमात्मा से कहता है क्या देव-विकुर्वित सुवर्ण-कमलों पर पद-न्यास कर समवसरण में पधारोगे? ये कमल तो विशेष समय में विकुर्वित होते हैं परन्तु हे परमात्मा! मेरा हृदय-कमल नित्य नवोदित, सदा मुदित, भावों से सतत विकसित, भक्ति से विलसित है और सदा-सर्वदा तेरे चरणों में समर्पित है। प्रभु! पधारो न इस हृदय-कमल में। विकुर्वित ज्वनन जड़ है और मेरा हृदय-कमल चतन्यगुण संपन्न है।

१२६ भक्तामर स्तोत्र एक दिव्य दृष्टि

३२	दुदुभि	बुद्धि-चातुर्य-दक्षता	अनाहत नाद
३३	पुष्पवृष्टि	लक्ष्मी	श्रद्धा-भक्ति
३४	प्रभामण्डल	मेधा-प्रज्ञा	
३५	दिव्यध्वनि	विद्या	समर्पण-परिवर्तन
३६	सुवर्णकमल	समस्त ऋद्धि-सिद्धि	हृदय मे प्रतिष्ठा



अब आगे के १० श्लोक कर्म से सम्बन्धित हैं। इनमें प्रथम ९ पद्य मुख्य हैं, जिनमें कर्म के दो विभाग बहुत ही स्पष्टतः व्याख्यायित किये गये हैं। कर्म दो प्रकार के है—घाति और अघाति।

आत्मगुणों का जो घात करते हैं वे घातिकर्म हैं। ये आत्मा के गुणों का आवरण करते हैं, आत्मा के बल-वीर्य को रोकते हैं, आत्मा को विह्वल करते हैं। इन सारे कारणों को लेकर इन कर्मों को घातिकर्म कहते हैं। आठ कर्मों में ये घातिकर्म चार हैं—

- | | |
|---------------|---------------|
| १ ज्ञानावरणीय | २ दर्शनावरणीय |
| ३ मोहनीय और | ४ अतराय। |

घातिकर्म क्षय करने में सरलता रहती है। अतः इन्हें रोका जा सकता है, हटाया या क्षय किया जा सकता है।

जैसे ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से पाठ याद नहीं होता है परन्तु इसे दो, चार, आठ, सोलह, बत्तीस, चौसठ या सौ बार रटने से ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम अथवा क्षय होने से याद हो जाता है। इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म का भी होता है। प्रयत्न से इसे आंशिक रूप में रोककर पूर्णतः खपाया जा सकता है।

यद्यपि मोहनीय कर्म अत्यन्त बलवान् है परन्तु फिर भी वह जैसी तीव्रता से आता है वैसी तीव्रता से हट भी सकता है। इतना इसे भोला भी माना जा सकता है।

अतराय कर्म का क्षय या क्षयोपशम होने से उससे प्रवर्तन होता है, वीर्य प्रकट होता है। वीर्य के दो प्रकार हैं—

- १ अभिसंधि और २ अनभिसंधि।

अभिसंधि याने आत्मा की प्रेरणा से वीर्य का प्रवर्तन और अनभिसंधि याने कषाय से वीर्य का प्रवर्तन।

ज्ञान का कार्य जानना है, दर्शन का कार्य देखना है और वीर्य का कार्य प्रवर्तमान होना है। ज्ञान दर्शन में भूल नहीं होती है परन्तु उदयभाव में रहे हुए दर्शनमोह के कारण भूल होने से भ्रान्ति के कारण सब गलत प्रतीत होता है। इसी कारण वीर्य भी विपरीत रूप परिणत होता है। यदि सम्यक् रूप में परिणमन हो तो आत्मा सिद्ध पर्याय को पाता है। जब तक योग है, आत्मा अपनी वीर्यशक्ति से निरंतर परिणमन करता रहता है। इसीलिये ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अतराय ये तीन प्रकृति उपशमभाव में नहीं हो सकती हैं, क्षयोपशमभाव में ही होती हैं। यदि ये प्रकृति उपशमभाव में होती तो आत्मा जड़वत् ही रहती।

इनमें अन्तराय को क्षायिकभाव की दृष्टि से देखने पर अनतवीर्यलब्धि उत्पन्न होती है। (इसमें अवान्तर चार लब्धियाँ और मानी जाती हैं परन्तु वे सब इसी वीर्यलब्धि में शामिल हैं) वीर्य के प्राप्त होने पर आत्मा उन लब्धियों का उपयोग पुद्गल द्रव्यरूप

परिणमित करने में समर्थ है फिर भी कृतकृत्य ऐसे परम पुरुष में सम्पूर्ण वीतराग स्वभाव होने पर उसका उपयोग असंभव है। उपदेशादि के दानरूप उनकी प्रवृत्ति पूर्वबध के उदयमान परिणामों से योगाश्रित होती है।

पद्यों के दो विभाग हैं—प्रथम विभाग में कथित चार श्लोक इन चार घातिकर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं और शेष पाच पद्य अघातिकर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। घातिकर्म में प्रधान मोहनीयकर्म है और अघातिकर्म में प्रधान वेदनीय कर्म है। इन दोनों कर्मों का प्रतिनिधित्व कर यह घाति अघाति का भेद स्पष्ट करता है।

प्रथम विभाग में बताया गया है कि परमात्मा का नाम स्मरण करने से आने वाले उपसर्ग रुक जाते हैं और शेष पाच पद्यों में कहा है कि आने वाले उपसर्गों से परमात्मा का स्मरण पार उतार देता है। यहाँ जो अन्तर है वही घाति अघाति का स्पष्टीकरण है। घातिकर्म आत्मा जब चाहे तब तोड़ सकता है, रोक सकता है। घातिकर्म देहस्पर्शी ही नहीं आत्मस्पर्शी भी होते हैं। प्रथम चार उपसर्गों में भय बताया जाएगा जो आत्मा के भावों का स्पर्श करता है। जब कि शेष श्लोकों में सग्राम, वाडवाग्नि, रोग, जजीर बधन ये शरीरस्पर्शी हैं। ये वेदनाप्रधान हैं। अघातिकर्म भोगने ही पड़ते हैं। ये न तो सर्वथा रोके जाते हैं और न इनका सर्वथा क्षय होता है।

अघातिकर्म में वेदनीय मुख्य है और अन्य आयुष्य, नाम और गोत्र भी इसमें सम्मिलित हैं। यहाँ अब इन कर्मों का स्वरूप विभिन्न प्रतीकों के माध्यम से बताया जाएगा। और वे श्लोक सर्व कर्मों के प्रतीक बन, कर्मक्षय के उपाय प्रस्तुत कर मोक्षमार्ग का नेतृत्व करेंगे।

समस्त घातिकर्म का नेतृत्व करते हुए एक मदोन्मत्त हाथी को काम, मान और अन्तरायकर्म का प्रतीक बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं—

श्च्योतन्मदाविल-विलोल-कपोलमूल

मत्तभ्रमद् भ्रमर-नाद-विवृद्ध-कोपम्।

ऐरावताभमिभमुद्धत-मापतन्त,

दृष्ट्वा भय भवति नो भवदाश्रितानाम् ॥३८॥

भवदाश्रितानाम्

— आपके शरणागत पुरुषों को

श्च्योतन्मदाविलविलोलकपोलमूल

— झरते हुए मद-जल से जिसके गण्डस्थल (गण्ड प्रदेश) मलीन हो रहे हैं और जिन पर मैंडराते हुए चंचल-मत्त भौरे अपने गुजन से जिसका क्रोध बढ़ा रहे हैं ऐसे

मत्तभ्रमद्भ्रमरनादविवृद्धकोपम्

— ऐरावत हाथी के समान आकार वाले

ऐरावताभम्

— उद्दण्ड, अवश

उद्धतम्

क्रमयुगाचलसश्रितम् — दोनो चरणरूपी पर्वत के आश्रित (भक्त) पर
न आक्रामति — आक्रमण नहीं करता।

मोह कर्मराज है। सर्व कर्मों का नेतृत्व उसके हाथों में है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय ज्ञान-दर्शन पर आवरण का काम करते हैं। अतराय कर्म का कार्य आवरण करना नहीं है। यह आत्मा के गुणों का आवरण नहीं करता पर यह आत्मा के वीर्य-बल को रोकता है। ये तीन आत्मघाती प्रकृतियाँ हैं। मोहनीय भी घाती प्रकृति है। यह न तो आवरण लाती है, न कुछ रोकती है। इसका कार्य है विह्वल करना, व्याकुल करना, मूर्च्छित करना।

हे परमात्मा ! बद्धकर्म याने छलांग मारने के लिये उद्यत ऐसा मोह का प्रतीक रूप सिंह जो काम और मान के प्रतीक सम हाथी पर अपना नेतृत्व करता है। ऐसा यह मोह रूप सिंह भी आपके आश्रित भक्त पर आक्रमण नहीं करता है। जैसे सिंह छलांग मारता है वैसे ही आपके अनाश्रित ऐसे मुझ पर यह मोह-कर्म शांति में छलांग मारकर मुझे हतप्रभ करता रहा है।

निश्चय दृष्टि से आपके प्रति रहा हुआ राग भी वीतराग भाव में त्यजनीय है, फिर भी हे परमात्मा ! तेरे प्रति रहा हुआ प्रशस्त राग मेरे लिए परम साधन है। राग केशरी सिंह है। वनराज सिंह सदा भय का प्रतीक रहा, परन्तु वही सिंह जब सर्कस का सिंह बना लिया जाता है। तब वह रिंग मास्टर के इशारे पर कार्यक्षम रहकर अत्यधिक कमाई भी करा देता है। नाश करने वाला सिंह कार्य कुशलता से अर्थ सहयोग का साधन बन जाता है। वैसे ही हे प्रभु ! राग भी सिंह है। वह ससार में तो भयानक है पर अध्यात्म क्षेत्र में वही सिद्धि सहयोग का परम कारण बन जाता है।

इसी प्रकार कषायों में क्रोध को सिंह की उपमा दी गई है। सिंह की गणना सौम्य प्राणियों में नहीं है। वह क्रूर और घातकी प्राणी माना जाता है। क्रोध के उदयभाव में व्यक्ति की आकृति भी प्रकृति के अनुसार उत्तेजित, उग्र और क्रूर-सी हो जाती है।

मैं अनादिकाल से कर्म मोहनीय से आबद्ध हूँ। प्रभु ! आज तेरे चरणों का आश्रय ग्रहण करने से अब वह मुझ पर आक्रमण नहीं कर सकता।

ऐसा सोचते हुए आचार्यश्री को ससार की भयानक माया को पराजित करने की इच्छा होती है, वे कहते हैं—

कल्पान्तकाल-पवनोद्धत-वन्हि-कल्पं,
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिङ्गम्।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं,
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम् ॥४०॥

कल्पान्तकालपवनोद्धतवन्हिकल्पम् — प्रलयकाल की महावायु के तेज थपेड़ों से उत्तेजित हुई आग के समान

ज्वलितम्	- जलती हुई
उज्ज्वलम्	- रक्तवर्णी/लालिमा युक्त
उत्स्फुल्लिङ्गम्	- चारों ओर ऊपर को उठती हुई चिनगारियों वाली
अशेषम् विश्वम्	- सारे ससार को
जिघत्सुम् इव	- नाश करने/खा जाने की इच्छुक ऐसी
सम्मुखम्	- सामने-समक्ष में
आपतन्तम्	- आती हुई
दावानलम्	- दावाग्नि को-जगली आग को
त्वन्नामकीर्तनजलम्	- आपके नाम का कीर्तन (स्मरण) रूपी जल
(अशेषम्)	- (सम्पूर्ण रूप से)
शमयति	- शान्त कर देता है-बुझा देता है।

दावानल के अति बीभत्स रूप को प्रतीक बनाकर यहाँ माया को चित्रित किया गया है। समस्त ससार को अपनी लपेट में लेकर यह सर्वनाश की द्योतक है। माया समस्त कषायों में साथ रहती है। आत्मा के सहज स्वाभाविक रूप को यह आवृत करती है।

यह दावाग्नि दर्शनावरणीय कर्म का भी प्रतीक है। जैसे दर्शनावरणीय कर्म यथास्थिति को समझने नहीं देता है वैसे ही दावाग्नि अपनी प्रचंडता में फैलकर, व्यापकता में उद्धत होकर वास्तविकता से वंचित कर देती है। इसकी विकरालता, घातिकर्म की उन्मत्तता से एकरूपता दिखाती है।

फिर भी परमात्मा के स्मरण रूप जल से यह दावाग्नि रूप माया निष्फल हो जाती है। शान्त हो जाती है।

आगे कहते हैं-

रक्तेक्षण समद-कोकिल-कण्ठनील,
क्रोधोद्धत फणिनमुत्फणमापतन्तम्।
आक्रामति क्रमयुगेन निरस्तशङ्क-
स्त्वन्नाम-नागदमनी हृदि यस्य पुसः॥४१॥

यस्य	- जिस (के)
पुस	- मनुष्य के
हृदि	- हृदय में

त्वन्नामनागदमनी	— आपके नाम रूपी नागदमनी (है वह मनुष्य)
निरस्तशङ्क	— शका रहित होता हुआ
रक्तेक्षणम्	— लाल आँखो वाले
समदकोकिलकण्ठनीलम्	— उन्मत्त कोयल के कण्ठ के समान काले
क्रोधोद्धतम्	— क्रोध से उद्धत
आपतन्तम्	— सामने आते हुए
उत्फणम्	— ऊपर की ओर फन उठाये हुए
फणिनम्	— सर्प को
क्रमयुगेन	— दोनो पैरो से
आक्रामति	— लोंघ जाता है।

एक विशेष सर्प से हम आतंकित हैं, पीडित हैं। जब तक वह सर्प वश में नहीं होगा हर समय उसके द्वारा डसने की भय/आशंका बनी रहती है। साधना के लिये कदम बढ़ाते साधक को यह कैसी विचित्र चुनौती है? यह तो मार्ग में फन उठाये बैठा है। उसका उल्लंघन कैसे संभव हो सकता है?

नागदमनी होती है जो सर्प को वश में करती है, उसका दमन करती है। यह एक जड़ी विशेष है। परमात्मा का नाम एक ऐसी नागदमनी है जो ज्ञानावरणीय जैसे विकराल फणिधर को भी वश में कर लेती है। परमात्मा के नाम-स्मरण से साधक इस भय का उल्लंघन कर अपना पथ प्रशस्त कर सकता है।

सर्प क्रोध और लोभ का भी प्रतीक है। सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि जिनकी धनादि में अधिक मूर्च्छा होती है वे मरकर सर्प होते हैं। पूर्वकाल में कई ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमें धनादि के स्थान पर सर्प कुडली मारकर बैठा रहता है और उसे किसी को भी नहीं छूने देता है।

इसी प्रकार यह क्रोध का भी प्रतीक माना है। स्पष्टतः प्रस्तुत श्लोक में सर्प वर्णन में क्रोधी व्यक्ति को चित्रित किया हुआ भी पा सकते हैं। चडकौशिक सर्प के आख्यान में इसे पूर्वजन्म में तापस होने और क्रोध में मृत्यु हो जाने पर सर्प होने की कथा भी लोक प्रचलित है।

सर्प चाहे क्रोध का, चाहे लोभ का, चाहे ज्ञानावरणीय कर्म का प्रतीक मानें पर यह निश्चित है कि परमात्मा के नाम स्मरण से हम इसे उल्लंघन सकते हैं।

इस प्रकार मोहनीय कर्मप्रधान घातिकर्म का वर्णन यहाँ समाप्त होता है।

घातिकर्मों के सम्पूर्ण नाश की इस प्रक्रिया के बाद अब आचार्यश्री कहते हैं कि अपराजेय कर्मरूपी शत्रु अवश्य ही दुर्जेय है परन्तु परमात्मा का स्मरण इन पर विजय प्राप्त करने का सर्वोत्तम उपाय है। इसका समाहार करते हुए कहते हैं—

वल्गातुरङ्ग-गजगर्जित-भीमनाद-
माजौ बल बलवतामपि भूपतीनाम्।
उद्यद्दिवाकरमयूख-शिखापविद्ध,
त्वत्कीर्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥४२॥

आजौ	— सग्राम मे, युद्ध स्थल मे
त्वत्कीर्तनात्	— आपके कीर्तन से (आपके गुणो के स्मरण से)
वल्गातुरङ्गगजगर्जितभीमनादम्	— हेषारव करते हुए, उछलते हुए घोडो और गर्जना करते हुए हाथियो की भयकर आवाज हो रही है जिसमे ऐसी
बलवताम्	— पराक्रमी-शक्तिशाली सेनाओ से युक्त
अरिभूपतीनाम्	— शत्रु राजाओ की
वलम्	— सेना
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धम्	— उदीयमान दिवाकर की किरणो के अग्रभाग से भेदे गये
तम इव	— अन्धकार के सदृश
आशु	— शीघ्र ही
भिदाम् उपैति	— विनाश को प्राप्त होती है।

हे परमात्मा । जैसे सूर्योदय होते ही घने अन्धकार का शीघ्र ही नाश हो जाता है उसी प्रकार आपके स्मरण से, गुण कीर्तन से, अपराजेय ऐसे कर्मरूपी शत्रुओ का सर्वथा नाश हो जाता है। यहाँ शत्रु कर्म का प्रतीक है।

घातिकर्म रोके जाते हैं, उनका क्षय होता है, परन्तु अघाति कर्म मे ऐसे कोई उपाय सभव नहीं हैं। इनको अनिवार्य रूप से उदय मे आने पर भोगने पड़ते हैं। यहाँ पर प्रस्तुत चार श्लोक वेदनीयादि अघाति कर्म के प्रतीक हैं। इनमें और उपरोक्त श्लोकों मे यही अन्तर है। ऊपर में कहा गया है कि प्रभु के नाम स्मरण से उपसर्ग रोके जा सकते हैं, प्रस्तुत पद्यों में बताया है कि उपसर्ग के समय में कुछ समय तक परमात्मा में लीन रहने से इन उपसर्गों को पार किये जा सकते हैं।

जैसे घातिकर्मों का प्रतिनिधित्व मोहनीयकर्म करता है वैसे ही अघाति कर्मों का प्रतिनिधित्व वेदनीय कर्म करता है। इसकी स्पष्ट झलक अब हम आगे के पद्यों में पायेंगे—

कुन्ताग्रभिन्न गजशोणित-वारिवाह,
वेगावतार-तरणातुरयोध-भीमे।

युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षा-

स्त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणो लभन्ते ॥४३॥

- | | |
|---|---|
| त्वत्पादपङ्कजवनाश्रयिणः | — आपके चरण रूपी कमलवन का सहारा लेने वाले |
| कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारि-
वाहवेगावतारतरणातुरयोधभीमे | — बरछी व भालो के नुकीले अग्रभाग से भेदित, क्षत-विक्षत हाथियों के रक्त रूपी जल प्रवाह में वेग से—तेजी से उतरकर आगे बढ़ने में उतावले ऐसे योद्धाओं से भयकर |
| युद्धे | — युद्ध में |
| विजितदुर्जयजेयपक्षाः | — कठिनता से जीता जा सके ऐसे शत्रु पक्ष को जीत लिया है जिन्होंने ऐसे |
| जयम् लभन्ते | — जय को प्राप्त होते हैं। (विजय प्राप्त करते हैं।) |

इस श्लोक में वेदनीयकर्म में असातावेदनीय को अत्यंत ही स्पष्ट रूप से चरितार्थ करते हुए इस पर विजय प्राप्त करने में परमात्मा के चरण कमलो के माध्यम से शरण-ग्रहण की विशिष्टता बतायी है।

इस श्लोक की सर्वोपरि विशिष्टता यह है कि इसमें परमात्मा के चरणों को एक-दो कमल के उपमान से नहीं अपितु सम्पूर्ण कमलवन की उपमा से उपमित किया है। जीवन सग्राम है, युद्धभूमि है। यहाँ सातत्य रूप से निरन्तर युद्ध चल रहे हैं। राग और द्वेष के प्रतीक समान युद्ध से सम्बन्धित ये दोनों श्लोक राग द्वेष के महायुद्ध से बचने का परम उपाय वीतराग के चरणों में नमस्कार और शरण ग्रहण रूप बताते हैं।

आगे कहते हैं—

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषण-नक्र-चक्र-

पाठीनपीठ-भयदोल्बण-वाडवाग्नौ।

रङ्गत्तरङ्ग-शिखरस्थित-यानपात्रा-

स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद् ब्रजन्ति ॥४४॥

- | | |
|----------|-----------------|
| भवतः | — आपके |
| स्मरणात् | — स्मरण करने से |

अम्भोनिधौ	— सनुद में
क्षुभित	— क्षोभ के प्राप्त
भीषण	— भयानक ऐसे
नक्र	— नगर नछे घड़ियालें का
चक्र	— समूह तथा
पाठोन	— भीनकाय नछतिये
पीठ	— दिशिष्ट प्रकार के मत्स्यो से
भयद्	— भयकर (तथा)
उत्त्वण	— प्रकट
वाडवाग्नि	— वडवानल से युक्त
रङ्गतरङ्गशिखरस्थितयानपात्रा	— उछलती-लहराती ऊपर नीचे को होती हुई लहरो के शिखर पर डगमगा रहे, विचलित हो रहे हैं जहाज जिनके ऐसे पुरुष
त्रास	— आकस्मिक भय को
विहाय	— छोड़कर
ब्रजन्ति	— आगे बढ़ते चले जाते हैं।

यह श्लोक गोत्र कर्म का प्रतीक है। ससार रूपी समुद्र में जीवन रूपी जहाज अपने गन्तव्य स्थान पर जाने के लिये बड़ी तीव्रता से गति को साधकर प्रगति करता है परन्तु इस महायात्रा के मध्य में गोत्र कर्म की ऊँची नीची तरंगें उठकर कभी मान-अपमान या आकर्षण-घृणा की भावनाओं से उत्पन्न विषय वासना रूप मत्स्य से टकराता है। इस टकराव से कारण भवजन्य दुर्भावना की वाडवाग्नि उत्पन्न होती रहती है।

एक वैज्ञानिक तथ्य है कि पानी में भी आग उत्पन्न हो सकती है। बिजली दो प्रकार की होती है—

१ धनात्मक और

२ ऋणात्मक।

पानी से भरे मेघ जब आपस में टकराते हैं तो उसमें रही दोनों तरंगों में सघर्ष होने से बिजली पैदा होती है।

मनुष्य का सिर विद्युत् का धनात्मक केन्द्र है और पैर ऋणात्मक केन्द्र है। सृष्टि में उत्तरी ध्रुव में धनात्मक बिजली अधिक है और दक्षिण में ऋणात्मक बिजली अधिक है। यही कारण है दक्षिण की ओर पैर करके और उत्तर की ओर सिर रखकर सोने व्यक्तियों को हृदय तथा मस्तिष्क की बीमारियाँ अधिक होती हैं। बिजली का नियम

यदि एक ही प्रकार की बिजली आमने सामने आती है तो एक दूसरे से मिलती नहीं पर अलग होकर हटना चाहती है और यदि परस्पर विरोध वाली हो तो दौड़कर मिलना चाहती है। यदि मनुष्य का सिर दक्षिण की ओर है तो सिर की धनात्मक विद्युत् तरंग और दक्षिणी ध्रुव की ऋणात्मक विद्युत् तरंग एक दूसरे से समायोजन स्थापित कर मिलती हैं। परन्तु, यदि मनुष्य का सिर उत्तर में हो तो सिर का धनात्मक ग्रहण और उत्तर दिशा की धनात्मक बिजली तरंग हट जाएँगी, परिणामतः व्यक्ति रोगों से ग्रस्त हो सकता है।

यही कारण है कि हमारे यहाँ मृत्यु के समय व्यक्ति को उत्तर की ओर सिर कर भूमि पर लेटाया जाता है। ऐसा करने से प्राण सुगमता से निकलते हैं। जब बिजली की गति पर हो जाती है तब वह भूमि में शीघ्र उतर जाती है। भूमि बिजली को त्वरा से अपनी ओर खींच लेती है।

राग और द्वेष इन बिजली तरंगों की तरह आमने सामने आकर एक दूसरे में सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं। इससे हमारे वीतराग भाव बलात् विस्थापित हो जाते हैं। यह टकराव भयंकर है इससे दुर्भावनाओं की वाडवाग्नि उत्पन्न होती है जो सर्वनाश का खतरा बन जाती है। आत्मा रूपी यात्री वीतराग का स्मरण कर इसे पार कर सकता है।

आगे कहते हैं—

उद्भूतभीषण-जलोदर-भारभुग्ना ,
शोच्या दशामुपगताश्च्युतजीविताशा ।

त्वत्पाद-पङ्कज-रजोऽमृतदिग्धदेहा

मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपा ॥४५॥

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना	—	उत्पन्न हुए भयंकर 'जलोदर' के भार से या वजन से झुके हुए
शोच्याम्	—	शोचनीय (चिंतायुक्त)
दशाम्	—	अवस्था को
उपगता	—	प्राप्त
च्युतजीविताशा	—	जिन्होंने जीवन की आशा छोड़ दी हो ऐसे
त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा	—	(और) आपके पाद-पद्मों की रज (धूलि) रूपी अमृत से लिप्त कर लिया है अपने शरीर को जिन्होंने ऐसे
मर्त्या	—	मनुष्य
मकरध्वजतुल्यरूपा	—	कामदेव के समान सुन्दर रूप वाले
भवन्ति	—	हो जाते हैं।

यदि एक ही प्रकार की बिजली आमने सामने आती है तो एक दूसरे से मिलती नहीं पर अलग होकर हटना चाहती है और यदि परस्पर विरोध वाली हो तो दौड़कर मिलना चाहती है। यदि मनुष्य का सिर दक्षिण की ओर है तो सिर की धनात्मक विद्युत् तरंग और दक्षिणी ध्रुव की ऋणात्मक विद्युत् तरंग एक दूसरे से समायोजन स्थापित कर मिलती हैं। परन्तु, यदि मनुष्य का सिर उत्तर में हो तो सिर का धनात्मक ग्रहण और उत्तर दिशा की धनात्मक बिजली तरंग हट जाएंगी, परिणामतः व्यक्ति रोगी से ग्रस्त हो सकता है।

यही कारण है कि हमारे यहाँ मृत्यु के समय व्यक्ति को उत्तर की ओर सिर कर भूमि पर लेटाया जाता है। ऐसा करने से प्राण सुगमता से निकलते हैं। जब बिजली की गति पर हो जाती है तब वह भूमि में शीघ्र उतर जाती है। भूमि बिजली को त्वरा से अपनी ओर खींच लेती है।

राग और द्वेष इन बिजली तरंगों की तरह आमने सामने आकर एक दूसरे में सामंजस्य स्थापित कर लेते हैं। इससे हमारे वीतराग भाव बलात् विस्थापित हो जाते हैं। यह टकराव भयंकर है इससे दुर्भावनाओं की वाडवाग्नि उत्पन्न होती है जो सर्वनाश का खतरा बन जाती है। आत्मा रूपी यात्री वीतराग का स्मरण कर इसे पार कर सकता है।

आगे कहते हैं—

उद्भूतभीषण-जलोदर-भारभुग्ना ,
शोच्या दशामुपगताश्च्युतजीविताशा ।
त्वत्पाद-पङ्कज-रजोऽमृतदिग्धदेहा
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपा ॥४५॥

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्ना	— उत्पन्न हुए भयंकर 'जलोदर' के भार से या वजन से झुके हुए
शोच्याम्	— शोचनीय (चिंतायुक्त)
दशाम्	— अवस्था को
उपगता	— प्राप्त
च्युतजीविताशा	— जिन्होंने जीवन की आशा छोड़ दी हो ऐसे
त्वत्पादपङ्कजरजोऽमृतदिग्धदेहा	— (और) आपके पाद-पद्मों की रज (धूलि) रूपी अमृत से लिप्त कर लिया है अपने शरीर को जिन्होंने ऐसे
मर्त्या	— मनुष्य
मकरध्वजतुल्यरूपा	— कामदेव के समान सुन्दर रूप वाले
भवन्ति	— हो जाते हैं।

जीवन की आशा आयुष्य कर्म है। अधाति कर्मों ने इसे भी म्यान दिया है क्योंकि यह भी मोक्ष में बाधक होता है। यहाँ वेदनीय की प्रधानता में जीवा मृत्यु का रहस्य बताकर रोग-मुक्ति का उपाय परमात्मा के चरणों को बताया है। प्रत्येक रोगों का मूलधार पेट माना जाता है अतः यहाँ इसकी प्रधानता में निरोगिता याने कम रहितता की अवस्था-प्राप्ति की सफलता दर्शायी है।

साथ ही इसमें जलादर से अतिरिक्त दो ओर भी अवस्थाएं चित्रित की हैं—

१ शोच्या दशामुपगता — याने किमी भी चिन्ता की अवस्था को प्राप्त आर

२ च्युतजीविताशा—जिसके जीवों की आशा समाप्त हो चुकी है ऐसा भी मानव।

प्रथम जलादर से दक्षिण रोग में, दूसरे में मार्मिक रोग से आर तीसरे में जीवन से सम्बन्धित समस्या में भी परमात्मा का स्मरण एक विशेष समाधान की दिशा प्रदान करता है।

अब अति कम की प्रधानता को परिलक्षित करते हुए कहा है —

आपादकण्ठ-मुरुशृङ्खल-वेष्टिताङ्गा,

गाढ वृहन्निगडकोटिनिघृष्टजघा ।

त्वन्नाममन्त्रमनिश मनुजा स्मरन्त ,

सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति ॥४६॥

- | | |
|-------------------------|--|
| आपादकण्ठम् | — (पैरों) से लेकर (गले) तक |
| उरुशृङ्खलवेष्टिताङ्गा | — लम्बी चौड़ी बड़ी-बड़ी दृढ़ साकलों से—जजीरों से जकड़ दिया है शरीर का अग-अग जिआका ऐसे, |
| गाढम् | — खूब अधिक मजबूत रूप से |
| वृहन्निगडकोटिनिघृष्टजघा | — बड़ी-बड़ी वेड़ियों तथा लौह शृङ्खलाओं के अग्रभाग से—किनारों से रगड़ कर छिल गई हैं जघाये जिनकी ऐसे |
| मनुजा | — मनुष्य |
| त्वन्नाममन्त्रम् | — आपके नाम रूपी मन्त्र को |
| अनिशम् | — निरन्तर (सतत-अन्तराल रहित-अनवरत) |
| स्मरन्त | — स्मरण करते हुए (जपते हुए) |
| सद्यः | — तत्काल-अति शीघ्र |
| स्वयम् | — अपने आप—खुद-ब-खुद |
| विगतबन्धभया | — बन्धन के भय से सर्वथा रहित |
| भवन्ति | — हो जाते हैं। |

प्रस्तुत पद्य नामकर्म की प्रधानता के साथ सर्वकर्म से जुड़ा हो, ऐसा लगता है। नामकर्म विशाल है इसकी प्रकृतियाँ अनेक हैं। यही हमारी देहजन्य निर्माणशैली का कारण है। इसे Creative कर्म माना जाता है। आपका स्मरण करने वाला इस कर्म से सर्वथा रहित हो जाता है।

अब उपरोक्त सर्व कर्मों का संयोजन स्थापित करने वाला पद्य है—

मत्तद्विपेन्द्र-मृगराज-दवानलाहि-
सग्राम-वारिधि-महोदर-बन्धनोत्थम्।
तस्याशु नाशमुपयाति भय भियेव,
यस्तावक स्तवमिम मतिमानधीते ॥४७॥

य	— जो
मतिमान्	— बुद्धिमान (प्रज्ञावान पुरुष)
तावकम्	— आपके,
इमम्	— इस
स्तवम्	— स्तोत्र को,
अधीते	— पढ़ता है,
तस्य	— उसका
मत्तद्विपेन्द्रमृगराजदवानलाहि- सग्रामवारिधिमहोदरबन्धनोत्थम्	— मदोन्मत्त हाथी, सिंह, दावाग्नि, सर्प, सग्राम, सागर, जलोदर तथा बन्धन से उत्पन्न हुआ
भयं	— भय
भिया	— भयभीत होकर
इव	— मानो
आशु	— शीघ्र ही
नाशम् उपयाति	— विनाश को प्राप्त करता है

आत्मा इस स्तोत्र के पढ़ने से और आपके प्रति श्रद्धावान होने से सर्वथा ससार-भय से और कर्म से मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से यहा कुल ९ उपसर्गों का वर्णन है। जो इस प्रकार विभक्त किये जा सकते हैं—

१ हाथी	तिर्यच सम्बन्धी
२ सिंह	” ”

३ दावाग्नि	नेसर्गिक
४ सर्प	तियच सम्बन्धी
५ युद्ध	मनुष्य सम्बन्धी
६ युद्ध	" "
७ वाडवाग्नि	नसर्गिक
८ जलोदर	कर्मकृत
९ वधन	कर्मकृत

इस विभाजन से यहा तिर्यंचकृत तीन, मनुष्यकृत दो, काकृत दो आर निसर्गकृत दो—कुल नौ उपसर्ग हैं जो अन्य अनेक उपसर्गों का प्रतिनिधित्व कर अपने मे सहायभूत कर लेते हैं।

परमात्मा के शरण ग्रहण से इन उपसर्गों का सहज शमन हो जाता है। शरण-ग्रहण समर्पण-प्रधान होता है अतः अब समर्पण विषय के द्वारा अन्तिम श्लोक को आचार्यश्री के अनुग्रह से अनावृत करने का प्रयास करेंगे।



१७. समर्पण

अध्यात्म पथ पर समर्पण साधना की नींव है। समर्पण हृदय की एक विशिष्ट दशा है जो आत्मा को परमात्मा से, मुमुक्षु को तत्त्वज्ञान से, योगी को योग से, सयमी को सयम से, भक्त को भगवान से, तुच्छ को महान से अभिन्न कर देती है अतः समर्पण वास्तविक साधना का एक मात्र अनन्य साधन है।

समर्पण के सम्बन्ध में सोचने पर प्रश्न होता है कि किसके प्रति समर्पण की यह बात है? क्या ससार के प्राणियों ने कभी किसी को समर्पण नहीं किया है? यदि किया है तो उसने क्या पाया? और इस समर्पण के बाद भी कौनसा अभाव लगा जो आचार्यश्री भक्तामर स्तोत्र के द्वारा हम में इसका सद्भाव जगा रहे हैं?

इन सारे प्रश्नों का समाधान पाने के लिए प्रथम हमें यह समझ लेना अत्यावश्यक है कि समर्पण तो प्रत्येक जीव अनेक बार करते रहे हैं। परन्तु यह समर्पण योग्य तत्वों के प्रति नहीं रहा, अतः समर्पण के पात्र, समर्पण के तत्व नित्य परिवर्तित होते रहे।

यहाँ आचार्यश्री परम तत्त्व के साथ समर्पण की बात कर रहे हैं। परमात्मा से समर्पण करने का अर्थ होता है अपने आप को समर्पण होना। आत्मा की सबसे बड़ी गलती मात्र एक ही है कि उसने अपने आपका विश्वास खोकर ससार के अनेक व्यक्ति और पदार्थों को वह समर्पित होता रहा।

अपने आपको खोकर बहुत कुछ प्राप्त करना, इससे बड़ी भूल और कौनसी हो सकती है? अपने आप पर विश्वास नहीं करने से अपने कर्तव्य पर भी विश्वास नहीं रहता। कर्तव्य का विश्वास खोने से जो भी किया जाता है वे सारे कर्तव्य के नाम पर चलने वाले अकर्तव्य ही तो रहेंगे।

इसी कारण महापुरुषों की दृष्टि में घटनाएँ हमें बहुत कुछ सिखा देती हैं कि ससार की अनुकूलता और प्रतिकूलता पर विश्वास करना बहुत बड़ी भूल है। इसी भूल के कारण शुद्ध सहज चैतन्य स्वरूप आत्मा इस अनादिरूप ससार में परिभ्रमण करता है। स्वयं की नित्य स्वतंत्र सत्ता का भान होने पर भ्रम रहता है। भ्रम के टूटने पर व्यक्ति स्वयं से जुड़ जाता है। क्योंकि किसी का टूटना किसी से जुड़ जाना होता है, किसी का न होना किसी का होना हो जाता है।

परम सत्ता के प्रति समर्पित होता है तो वह समर्पण ऐसे ही नहीं होता है। इसमें इष्ट के साथ तादात्म्य स्थापित करना होता है। सृष्टि में, घटनाओं में जैसा होता है, उसे सहर्ष स्वीकार कर प्रसन्न रहने का अभ्यास करना ही परम सत्ता के प्रति समर्पित होना है।

भक्तामर स्तोत्र का अन्तिम श्लोक समर्पण का परम अध्याय है। साधना का यह आखिरी दाव है। चेतना के विकास की अन्तिम परिणति है।

इस अन्तिम श्लोक के प्रारम्भ के पूर्व, आचार्यश्री के साधना की प्राणतरंगों से ऊर्जान्वित अंग पर लटकती ४७ वेड़ी के बन्धन टूट चुके हैं। अटूट ऐसी आत्मनिष्ठा सफलता के चरम शिखर तक पहुँच चुकी है। परम पवित्र देहपर्याय भ से नि गूत अत्यंत पावन भाव तरंगे सम्पूर्ण वायुमंडल को विशुद्ध बना रही हैं।

यहाँ पर मनीषियों को इस आनन्दमय वातावरण में नया चिन्ता, नया बल और नयी शक्ति मिलती है। उन्होंने राजा से कहा—महाराज ! चुनौती का अवसर है। आप अपनी इस कोतूहलप्रिय जनता को मुनिश्री की अन्तिम वेड़ी खोलने का अवसर दें। यदि कोई महानुभाव बिना शस्त्र, बिना स्पर्श, मात्र अपनी साधना के बल पर मुनिश्री की इस अन्तिम वेड़ी को खोलना चाहता हो तो आप उन्हें आदेश प्रदान करें।

राजा को भी विद्वानों की यह बात पसन्द आयी। इसी आधार पर किसी आर्चान्हे साधक का पता चलेगा। किसी से भी यदि चुनौती वरदान बन जाय ऐसा मोचकर उन्होंने उद्घोषणा की। सिर्फ कुछ क्षणों का अवसर दिया गया। परन्तु जनसभा में से कोई भी इस चुनौती को झेलने का साहस नहीं जुटा पाया। लज्जित बने हुए राजा ने विद्वज्जनों से इसकी असमर्थता प्रकट करते हुए आचार्यश्री को ही वेड़ी खोलने का निवेदन प्रस्तुत किया।

यहाँ कर्मों के निर्मूलन के महान उपायो को आत्मसात् करते हुए आचार्यश्री पूर्ण प्रसन्नता की मुद्रा में विराजमान हैं और उनके भीतर से प्रस्फुटित होता है—

स्तोत्रमग्न तव जिनेन्द्र ! गुणेर्निबद्धा,
भक्त्या मया रुचिरवर्णविचित्र-पुष्पाम्।
धत्ते जनो य इह कण्ठगतामजस्र,
त 'मानतुङ्ग'भवशा समुपैति लक्ष्मी ॥४८॥

जिनेन्द्र !

— हे जिनेन्द्र !

इह

— इस विश्व में

य जन

— जो मनुष्य

भक्त्या

— भक्ति पूर्वक

मया

— मेरे द्वारा

तव

— आपके

गुणै

— प्रसाद, माधुर्य, ओज आदि गुणों से/धागो से

निबद्धा रुचिर वर्ण	बनायी हुई मनोज्ञ अक्षरो वाले, अलकारो से युक्त	गूँथी हुई सुन्दर-सुन्दर रंग चिररो पुष्पो से युक्त
कठगता धत्ते	भावपूर्वक जपता है	कठ मे धारण करता है अथवा पहनता है
मानतुगम्	आचार्य मानतुग का नाम निर्देश वाचक शब्द भक्त को	ऊँचे सम्मान वाले
लक्ष्मी	मोक्ष लक्ष्मी	पुण्य-वैभव अभ्युदय

प्रस्तुत श्लोक मे प्रयुक्त शब्द विशेष का पूर्व श्लोको के साथ बड़ा रहस्यमय सम्बन्ध है १ जिनेन्द्र शब्द का सम्बोधन प्रारभ मे श्लोक २, ३६ और ३७ मे आया है। पहले मे सम्बन्ध जोड़कर ३६ मे चरण कमल के वर्णन मे और ३७ मे परमात्मा के बाह्य वैभव की पूर्णाहुति मे प्रयुक्त है।

२ मया शब्द श्लोक २ के अह से जुड़ा हुआ है। प्रारभ की भूमिका मे जो अह, अह (Ego) का प्रतीक था वह श्लोक ८ मे “मया” बन गया। वही “मया” यहाँ अंतिम गाथा मे दर्शाया है कि मैं नहीं करता हूँ परन्तु आपकी परम भक्ति से यह मेरे द्वारा हो जाता है।

भक्त की आँखे बंद हैं। भावो मे समर्पण है। मुद्रा प्रसन्न है। मस्तक झुका हुआ है। परमात्मा ने कहा—वत्स ! बोल तुझे क्या चाहिये ?

भक्त ने कहा—

सर्व जीवों का कल्याण हो,
सर्व जीव मोक्ष को प्राप्त हों,
सर्व भक्त अमर पद को प्राप्त करें।

आचार्यश्री स्वयं को उपसर्ग रहित स्थिति मे अनुभूत कर कायोत्सर्ग पालकर खड़े होते हैं। जयनिनादो से राजधानी गूँज उठती है। सम्पूर्ण वायुमंडल विशुद्ध बन जाता है। जय घोषणाओ के नाद विश्रुत और व्यापक होते हैं।

परमात्मा आदिनाथ की जय!

मुनिश्री मानतुगाचार्य की जय!

जिन शासन की जय!

विशाल भक्त समुदाय के साथ आचार्यश्री स्वस्थान लौटते हैं। यहाँ राजा लहियो (प्रतिनिधिकारो) से सारी ताड़पत्रिया इकट्ठी कर स्वस्थान लौटते हैं। गुप्तमन्त्री के साथ ऊश म प्रवेश कर दरवाजा बंद करते हैं। मन्त्री से वेड़ियाँ पहनकर फिर सामने स्तोत्र गायकर बोलते हैं—

भक्तामर-प्रणतमालि-मणिप्रभाणा—

मुद्द्यानक दलित-पापतमो-वितानम्।

सम्यक्प्रणम्य जिनपादयुग युगादा-

वानम्वन भवजले पतता जनानाम्॥

य सस्तुत सकलवाङ्-मयतत्त्वबोधा-

दुदभुत-बुद्धि-पदुभि सुरलोकनाथे ।

स्तोत्रजगत्त्रितयचित्त-हररुदारं ,

स्तोष्ये किलाहमपि त प्रथम जिनेन्द्रम् ॥

जने पदले भी कला था कि उपासना के तीन प्रकार माने जाते हैं—

- | | |
|----------------|----------------------|
| १ प्रतिस्पर्धा | — Competition |
| २ पुनरावृत्ति | — Repetition |
| ३ भक्ति | — समर्पण(Dedication) |

एक बहू दूसरी बहू से कहती है—सास बड़ी लड़ती थी पर स्तोत्र पाठ से वश में हो गयी।

ये सारा Repetition है। इसमें हम स्तोत्र के रचयिता को repeat करते हैं। स्तोत्र के आराधक को Repeat करते हैं। ओर कभी Slip हो गये तो ? तो कहेंगे भक्तामर स्तोत्र सही नहीं है। ये सारी कल्पनाये हैं। यही है न हमारा Mensuration या certification ?

Dedication में अभिभावक अकेला है। वह भक्त है क्योंकि उसके हृदय में भक्ति है। वह दूसरो को नहीं देखता है कि कोई चला या नहीं ? कोई पहुँचा या नहीं ? इस सम्बन्ध में उसे न तो कौतूहल है और न सशय है। वह पूरे आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ता है—परमात्मा मेरे हैं, उन्हें मुझे ही पाना है। मुझ में ही प्रकट करना है। यह मेरा अपना ही रूप है, स्वरूप है। यह है समर्पण, भक्ति।

किसी माँ से यह पूछो, तुम अपने बेटे को इतना प्यार क्यों करती हो ओर वह यदि यह कहे कि यह तो मेरा फर्ज है तो उसका मातृत्व अधूरा है। पर यदि वह यह कहे कि मेरे हृदय में मातृत्व है, मैं प्यार करती नहीं मेरे से हो जाता है तो वह वात्सल्य है। यह मा का अपने बच्चे के प्रति Dedication है।

जहाँ भक्त का Dedication है वहाँ परमात्मा का Radiation है। जहाँ भाव है, वहाँ प्रभाव है।

हमारी स्थिति ऐसी है कि हम सद्गुरु की कृपा का, परमात्मा के अनुग्रह का और स्तोत्र का प्रभाव तो चाहते हैं परन्तु हम में समर्पण के कोई भाव नहीं रहते हैं।

यहाँ राजा भी Repetition कर रहा था। मुनि कौन हैं ? उनके परमात्मा कैसे हैं ? स्तोत्र क्या है या स्तोत्र का मूल्यांकन क्या है ? ऐसा कुछ भी नहीं समझने वाला नरपति स्तोत्र को उसी प्रकार Repeat करता है। जैसे Cassette Recorder में Cassette repeat होती रहती है। इसीलिये कहा है—

“स्तोत्रार्थं स्तोत्रं चैतन्यं यो न जानाति तत्त्वतः ,

शतलक्षजपतोऽपि स्तोत्रसिद्धिं न ऋच्छति।”

स्तोत्र चैतन्य जब तक न प्रकट हो वह सिर्फ स्तोत्र है। स्तोत्र को, स्तोत्र के चैतन्य को जो तत्त्व से नहीं जानता है उसे उसका करोडों की सख्या में जाप करने पर भी पूर्ण फल नहीं मिलता है।

भाषावर्गणा से अधिक सूक्ष्म श्वासोश्वास वर्गणा है परन्तु मनोवर्गणा तो श्वासोश्वास वर्गणा से भी अधिक सूक्ष्म है और मनोवर्गणा से भी अधिक सूक्ष्म कर्मवर्गणाएँ हैं। उनके क्षयोपशम से अतर्मुखी वृत्ति प्रकट होती है। सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। उसी नाम है स्तोत्र चैतन्य। तभी अप्रकट प्रकट होता है। अतीन्द्रिय की अनुभूति होती है।

ताडपत्रो पर टूटे-फूटे अक्षरो मे लिखे स्तोत्र को लेकर पढ़ते हुए राजा की आँखे खुली हैं, मन मे कौतूहल है। पर कोई बेडी नहीं टूटी। बड़ा रज हुआ। सारी बेडिया खोलकर उठ खड़ा हुआ। राजसैनिक को भेजकर मनीषी वर्ग को बुलाया। उनसे कहा—तुम्हारे मुनि की यह monopoly नहीं चलेगी। यही श्लोक उन्होंने गाया। तो कीलबन्ध बेड़ियाँ टूटती गयी और मेरे तो बिना कील की बेड़ियाँ भी नहीं टूटी।

प्रत्युत्पन्नमति विपश्चितो ने कहा—महाराज ! मुनिश्री की बेडी के बधन टूटने मे स्तोत्र के साथ उनकी भक्ति और भक्ति के आराध्य परमात्मा का प्रभाव था। राजन्! आराधना तीन तरह की होती है—

१ प्रतिस्पर्धाजन्य

२ पुनरावृत्तिजन्य और

३ भक्तिजन्य।

राजन्! आपमे पुनरावृत्ति है, भक्ति नहीं। पुनरावृत्ति से कभी साधना नहीं फलती है।

इस वार्तालाप से राजा को अपनी गलती महसूस हुई और वे समर्पण के लिये तैयार हुए। श्रद्धा और भक्ति से नम्र बने राजा के साथ विद्वद्वर्ग उपाश्रय पहुँचता है, परन्तु संयोग से उपसर्गजन्य स्थान से आहार नहीं लेने की धारणा से आचार्यश्री वहाँ से विहार कर पधार गये थे। आगन्तुक बहुत खिन्न होते हैं। यह कैसा मेरा और नगरवासियों का हीनभाग्य। मुनिश्री को कितनी उमंग से लाया था। यहाँ आकर भी एक पानी की बूँद या आहार कण लिये बिना ही वे पधार गये। वे निराश होकर, हताश होकर वही पर बैठ अश्रु बहाते हैं। अन्त मे राजा के आग्रह से दोनो रथारूढ होकर जिस दिशा मे आचार्यश्री विहार कर पधारे थे उस दिशा मे प्रस्थान करते हैं। कुछ दूरी पर पहुँच रहे आचार्यश्री की सेवा मे राजा नतमस्तक होकर अपने अपराध की क्षमा मागता है। पश्चात्ताप से अश्रुसिक्त होकर आचार्यश्री के चरणों का प्रक्षालन करता है। पूर्ण समर्पण के भावों के साथ नतमस्तक राजा के मस्तक पर आचार्यश्री ने हाथ रख कर कहा—

तुम्हारा कल्याण हो।

तुम्हारा साधना पथ प्रशस्त हो।

तुम शीघ्र ही भक्त होकर भगवान बन जाओ।

समर्पित राजा ने आचार्यश्री से अर्थपूर्ण भक्तामर-स्तोत्र को सुना और इसी प्रकार स्तोत्र का रहस्य जानने की अभ्यर्थना व्यक्त की। आचार्यश्री ने भक्तामर स्तोत्र का पूर्ण रहस्य समझा कर उन्हें प्रथम नवकार मंत्र का दान कर बाद मे स्तोत्रारम्भ कराया।

भक्तामर-प्रणतमौलि-मणिप्रभाणा-

मुद्घोतक दलित्-पापतमो-वितानम्।

सम्यक्प्रणम्य जिनपादयुगं युगादा-
वालम्बन भवजले पतता जनानाम् ॥

य सस्तुत सकलवाङ्-मयतत्त्वबोधा-
दुद्भूत-बुद्धि-पटुभि सुरलोकनार्थे ।
स्तोत्रैर्जगत्त्रितयचित्त-हरैरुदारै ,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथम जिनेन्द्रम् ॥

बोलो परम स्वरूप को प्राप्त-
आदिनाथ भगवान की जय !
हमारे परमार्थ के परम प्रेरणा स्वरूप सद्गुरुदेव
मुनिश्री मानतुगाचार्य की जय !
स्वय प्रभावित-
जिन शासन की जय !

ॐ शांति शांति शांति—



प्रश्न १—‘भक्तामर स्तोत्र और आधुनिक विज्ञान’ इस विषय के आपके प्रवचन से ध्वनि द्वारा बेडियाँ टूटने के वैज्ञानिक सिद्धान्त को तो सुना, परन्तु यह ध्वनि विज्ञान हमारी ऊर्जा को कैसे तरंगित कर सकता है? यह समझना चाहता हूँ।

उत्तर—भक्तामर स्तोत्र २६८८ अक्षरो का स्तोत्र है। ये सारे अक्षर यौगिक अक्षर हैं। यौगिक अक्षर अणु और परमाणु से भी बहुत अधिक सूक्ष्म होते हैं। अणु और परमाणु से भी बढ़कर कार्य यौगिक अक्षरो से बनने के प्रमाणों से हमारा वैभव भरा अतीत साक्षी है। ऐसे तो शब्द जड़ द्रव्य है, परन्तु उन जड़ अक्षरो को जब महायोगी अपनी प्राणचेतना के द्वारा ध्वनि प्रकम्पनों को अपनी विशिष्ट विद्युतीय शक्ति तरंगों से आपूरित करते हैं, तब वे यौगिक अक्षर मंत्र या स्तोत्र बन जाते हैं। ऐसे मंत्र और स्तोत्र सृष्टि के रहस्य, चमत्कार या अन्य ऐसे ही कई रूपों में समायोजित हो जाते हैं।

सम्पूर्ण सृष्टि ध्वनि प्रकम्पनों से भरी हुई है। इन कम्पनों को Frequency कहते हैं। विद्युत चुम्बकीय तरंग Electro-Magnetic Radiation युक्त कम्पनों से ही सृष्टि का वातावरण समायोजित रहता है। ये तरंग दो प्रकार की होती हैं—

१ अनुदैर्घ्य और २ अनुप्रस्थ।

इनमें केवल अनुप्रस्थ तरंगों का ध्रुवण हो सकता है।

ध्वनि के कम्पनों द्वारा विद्युत धारा में उसी आवृत्ति तथा रूप के कपन उत्पन्न करने के यंत्र को Microphone कहते हैं। इन विद्युत् कपनों की प्रबलता के उपकरण को प्रवर्धक कहते हैं। इस प्रवर्धित धारा के द्वारा पुनः ध्वनि उत्पादन करने के यंत्र को Telephone कहते हैं। इन यंत्रों के द्वारा क्षीण ध्वनि भी हजारों Mile तक सुनाई देती है। ध्वनि के इस संचरण में समय बहुत ही कम लगता है, क्योंकि यह ध्वनि के रूप में गमन नहीं करती बल्कि विद्युतधारा के रूप में और रेडियो तरंगों के रूप में प्रकाश के वेग से स्थानांतरित होती है। ऐसी ही पुनरुत्पादित ध्वनि की प्रबलता वाले यंत्र को Loud speaker कहते हैं।

ये ध्वनि दो तरह की होती है—

१ अक्षरात्मक ध्वनि और २ अनक्षरात्मक ध्वनि

दूसरी तरह से—श्राव्यध्वनि और अश्राव्य ध्वनि।

जिन ध्वनि तरंगों को हमारे कान पकड़ सकते हैं उसे हम श्राव्य ध्वनि कहते हैं, और जिस ध्वनि की कम्पन युक्त तरंगों को हमारे कान नहीं पकड़ सकते हैं, वह अश्राव्यध्वनि है। सामान्यतः हमारे कान प्रति सैकण्ड में १६ से लेकर ३२,७६८ कपन युक्त तरंगों को पकड़ सकते हैं, इससे अधिक कम्पन (Frequency) और लम्बी तरंगें अश्राव्य (Ultrasonic या Supersonic) हो जाती हैं।

सामान्यतः हम इसे इस प्रकार समझ सकते हैं, जैसे— मान लीजिये कि हम कमरे में बैठे हैं, जहाँ रेडियो, टेलीविजन या माइक की कोई व्यवस्था नहीं है

स्थिति में हम कमरे में बैठे व्यक्तियों की और कमरे के आसपास से आनेवाली आवाजों को सुन सकते हैं, इससे अतिरिक्त की नहीं। परन्तु हम यह भी समझते हैं कि अतिरिक्त काफी कुछ ध्वनियाँ तरंगित हो रही हैं परन्तु हम उन्हें नहीं सुन सकते हैं। यदि इन तरंगों को पकड़ा जाय तो वे यहाँ पर भी सुनी जा सकती हैं। इसका प्रमाण यह है कि इस समय कोई श्रवणध्वनि यत्र माइक, रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेलीविजन आदि द्वारा भारत से ही नहीं विदेशों से Broadcast होती हुई आवाज भी हमें सुनाई देने लगती है। इस Technique में ये ध्वनि यत्र उन तरंगों को पकड़कर हमारे कान पकड़ सके वैसी तरंगों में रूपान्तरित कर देते हैं।

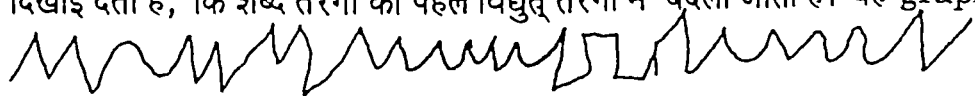
वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ध्वनि तरंगों का रस therapy को अब हमें अपने में रूपांतरित करने का मार्ग खोजना है। सामान्यतः ये ध्वनि तरंगें दो प्रकार की हैं—

१ साधारण वार्तालाप रूप और २ मानस तरंगें।

इनमें दोनों की लम्बाई और शक्ति (Length and Strength) में बहुत अन्तर है। जिसकी लम्बाई कम है उसमें शक्ति अधिक है। प्रथम सामान्य वार्तालाप में हमारी ध्वनि तरंगें १० फीट दूर तक जाती हैं। इसमें विचार तरंगें Wave Length कम हैं परन्तु इसकी Strength बहुत है। परिणामतः वार्तालाप की ध्वनि तरंगों को आँधी, तूफान, वर्षा या अन्य आवाजों से प्रत्याघात या चोट पहुँचने से ये बिखर भी जाती है, परन्तु विचार तरंगों पर इन सबका कोई असर नहीं होता। बल्कि कभी तीव्रता में हजारों मील दूर की सफर ये बिना किसी बाधा के पार कर लेती हैं।

सामान्य शब्द अक्षर हैं पर योगीपुरुष जब इसे अपने चिन्तन की तरंगों में रूपांतरित करते हैं तब ये अक्षर मन्त्र या स्तोत्र बन जाते हैं। भक्त साधक भक्तिपूर्ण एकाग्रता में जब इस स्तोत्र की अक्षर तरंगों के माध्यम से स्तोत्रकार में निहित चिन्तन तरंगों को स्वयं की शक्ति तरंगों में समायोजित करता है तब स्तोत्र परिणाम प्रकट करता है।

रेडियो में जो कार्य Crystal या Aerial करते हैं, आध्यात्मिक प्राणशक्ति के जगाने में वही कार्य स्तोत्र करते हैं। आकाशवाणी आपने देखी होगी, यहाँ पर स्पष्ट दिखाई देता है, कि शब्द तरंगों को पहले विद्युत् तरंगों में बदला जाता है। यह graph



इस प्रकार विद्युतीय रूप में रूपांतरित होता है। फिर रेडियो का Aerial विद्युत् तरंगों को पकड़कर शब्दों में बदल देता है और हम तब आसानी से पहुँचा देता है। महापुरुष मन्त्र स्तोत्रों में स्वयं की शक्ति को रूपांतरित करते हैं, हम स्तोत्र के माध्यम से इसे पकड़कर आराधना द्वारा स्वयं की शक्ति में परिणत कर सकते हैं।

पत्रवर्णा सूत्र में सिद्धान्त के अनुसार इन्हीं विचारधारा को बहुत अच्छे तरीके से समझाया गया है।

जीव पहले भाषा द्रव्यों को ग्रहण करता है। तत्पश्चात् वह उस भाषा को बोलता है अर्थात् गृहीत भाषाद्रव्यों का त्याग करता है। जीव कायिकयोग से (भाषा योग्य पुद्गलों को) ग्रहण करता है तथा वाचिकयोग से (उन्हें) निकालता है।

जीव जिन द्रव्यों को भाषा के रूप में ग्रहण करता है उन्हें सान्तर (बीच में कुछ समय का व्यवधान डालकर अथवा रुक-रुककर) भी ग्रहण करता है और निरन्तर (लगातार—बीच-बीच में व्यवधान डाले बिना) भी ग्रहण करता है। अगर जीव भाषाद्रव्यों का सान्तर ग्रहण करे तो जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट असख्यात समयों का अन्तर करके ग्रहण करता है। यदि कोई लगातार बोलता रहे तो उसकी अपेक्षा से जघन्य एक समय का अन्तर समझना चाहिए। जैसे— कोई वक्ता प्रथम समय में भाषा के जिन पुद्गलों को ग्रहण करता है, दूसरे समय में उनको निकालता तथा दूसरे समय में गृहीत पुद्गलों को तीसरे समय में निकालता है। इस प्रकार प्रथम समय में सिर्फ ग्रहण होता है, बीच के समयों में ग्रहण और निसर्ग— दोनों होते हैं, अन्तिम समय में सिर्फ निसर्ग होता है। जैसे—

०	नि	नि	नि	नि	नि	नि	नि
ग्र	ग्र	ग्र	ग्र	ग्र	ग्र	ग्र	०

इसमें जो अन्तर है उसे ही कम्पन रूप में हम अनुभूत करते हैं। रेडियो आदि इसी पद्धति की विज्ञान आविष्कृत एक यात्रिक योजना है।

प्रश्न २—मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भक्तामर स्तोत्र हम में कैसे परिवर्तन ला सकता है?

उत्तर—मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भक्तामर को मैं Healing Process therapy की मान्यता देती हूँ। Healing therapy का विज्ञान एक ऐसी चिकित्सा देता है कि जहाँ हमारा प्राण-प्रवाह रुद्ध, अवरुद्ध हो चुका हो वहाँ के द्वारा प्राणऊर्जा आदोलित की जाती है। यह प्राणऊर्जा शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य इन दस विभागों में विभक्त है। चित्त शक्ति के द्वारा ये प्राणऊर्जा इन दशो विभागों में निरन्तर रचनात्मक कार्य करती रहती है। स्तोत्र में सहयोजित वर्णमाला एक स्वीकारात्मक Positive एवं रचनात्मक Constructive आदोलनों को जगाने में बहुत अधिक सफल है। इसी कारण यह मानसिक या शारीरिक किसी भी रोग या प्रतिक्रिया से मुक्ति दिलाता है।

महापुरुष स्वयं की प्राणशक्ति को साधना के बल पर व्यवस्थित कर लेते हैं। वही व्यवस्थित प्राणऊर्जा आन्दोलित होकर विविध शक्तियों के रूप में परिणत होती रहती है। व्यक्ति की प्रत्येक गति इसी प्राणशक्ति आयाम के द्वारा विविध प्रयोजनों में पर्यवसित या सीमित की जा सकती है। स्नायविक शक्ति प्रवाह (Nerve Current), गुरुत्वाकर्षण, चुंबकशक्ति, विचारशक्ति, विविध शारीरिक क्रिया शक्ति आदि प्राणऊर्जाओं की विविध विकसित अवस्थाएँ हैं। ये आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोनों रूपों में प्रयुक्त होती रहती हैं। यही कारण है कि महापुरुषों की योगविद्याएँ विज्ञान के सदर्थ में परिणति पाती रहती हैं।

वर्तमान में व्याप्त दिव्यदृष्टि विद्या (Clairvoyance), मानसिक संचरण (Telepathy), आत्मवाद (Spiritualism), वशीकरणविद्या (Hypnotism) आदि सर्व प्राणायाम शक्ति की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रयोगकर्ता अपनी सूक्ष्मतम अनावृत प्राणशक्ति को ही तीव्रता के साथ उपयोग में लेता है। अपने प्राणों के विशिष्ट स्पन्दों को वह किसी आधार से समायोजित करता है। ये आधार मन्त्र या स्तोत्र अधिक रहे हैं। अक्षर ध्वनियाँ बनकर हमारी अनावृत ऊर्जा को प्रकट करने में परम सहयोगी सिद्ध होती हैं।

स्नायु प्रवाह दो प्रकार के होते हैं। एक ज्ञानात्मक या अन्तर्मुखी और दूसरे गत्यात्मक या बहिर्मुखी। इसमें ज्ञानात्मक स्नायु प्रवाह केन्द्र की ओर ले जाता है और मस्तिष्क को सवाद पहुँचाता है। दूसरा गत्यात्मक स्नायु प्रवाह केन्द्र से दूर मस्तिष्क के अंगों में सवाद पहुँचाता है। यद्यपि अंत में दोनों ही मस्तिष्क में मिल जाते हैं। वहाँ ये स्नायु प्रवाह एक बल्ब की तरह अंडाकार पदार्थ में समाप्त हो जाते हैं। इसे मेडूला (Medulla) कहते हैं। यह रहता है मस्तिष्क में परन्तु मस्तिष्क से अछूता और असलग्न रहकर एक तरल पदार्थ के रूप में तैरा करता है। इससे सिर पर चोट लगने पर भी उसकी शक्ति तरल पदार्थ में फैल जाने से बल्ब को आघात नहीं पहुँचता है।

अब हम बहिर्मुखी स्नायु प्रवाह की परिस्थिति का निरीक्षण करेंगे जिसका प्रभाव हम अन्य विधाओं के माध्यम से देखते हैं। विद्युत्गति इसका मुख्य कारण है। वस्तुतः विद्युत्गति समस्त परमाणुओं की अनवरत एक दिशा में गतिशील अवस्था मात्र है। किसी भी स्थान में स्थित समस्त वायु परमाणु यदि एक ही ओर अविच्छिन्न रूप से प्रवर्तित किये जायें तो वह स्थान महाविद्युत् धारायन्त्र Battery बने हो जाता है।

दोनों स्नायु समूह पर विद्युत् का प्रयोग करने से उन दोनों में धनात्मक और ऋणात्मक दो विपरीत शक्तियाँ उद्भूत होती हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि हमारी अपनी इच्छा शक्ति आत्मशक्ति (Will power) बनकर स्नायु प्रवाह में परिणत होकर विद्युत् रूप बन जाती है।

अब पिच्चुटरी ग्रन्थि से स्रावित दूसरे प्रवाह का प्रभाव भी देखे। महापुरुष, जिनमे निरतर सद्भावनाये सप्रेषित (Flow) होती रहती हैं और उनकी पिच्चुटरी ग्रन्थि से A C T H नामक हार्मोन्स स्रावित होता है। ये स्राव अन्य में उद्भूत S T H नामक हार्मोन्स को प्रभाव रहित कर देता है। परिणामतः महापुरुषों की ऊर्जा को Absorb करने से व्यक्ति रोग रहित भी होता है और दूषित भावनाओं से भी मुक्ति पाता है। इसी को भारतीय भाषा में आशीर्वाद, वरदान, कृपा या अनुग्रह का रूप माना जाता है। यह सृष्टि परिवर्तन का एक प्राकृतिक नियम बन जाता है। भारत की यह धरोहर संपूर्ण विश्व में एक अनन्यता का रूप बनी हुई है।

भक्तामर स्तोत्र में भक्ति द्वारा ऊर्जान्वित साधक की पिच्चूटरी ग्रन्थि से A C T H नामक हार्मोन्स निकलना शुरू होता है, परिणामतः उसकी प्राणऊर्जा में अल्पा तरंगे आदोलित हो जाती हैं और वह समस्त मानसिक पीड़ाओं से मुक्त हो जाता है। स्वयं आनंद से भर जाता है और उसके पास जो भी आता है, प्रसन्न हो जाता है। मैं समझती हूँ इससे बड़ी तात्कालिक उपलब्धि और क्या हो सकती है ?

प्रश्न ३-दिव्यदृष्टि विद्या (Clairvoyance), मानसिक सक्रमण (Telepathy), आत्मवाद (Spiritualism) के बारे में विस्तार से समझना चाहता हूँ।

उत्तर-दिव्यदृष्टि, मानसिक सक्रमण, आत्मवाद ये सब चित्त की निर्मल प्राणधारा से उत्थित प्राणवायु की उत्तरोत्तर उच्च से उच्चतर या उच्चतम स्पर्शन प्रणालियाँ हैं। प्रयोगकर्ता मनोवृत्ति द्वारा अपनी चुबकीय मानसिक शक्ति को तीव्र गति से प्रयोग में लाता है। यह कई बार तो अनुभूतिपरक रहता है और कई बार प्रयोगकर्ता स्वयं ही अपनी इस विशिष्ट शक्ति से अनभिज्ञ रहता है। योगीपुरुषों में ये शक्तियाँ व्यापक रूप से प्रयुक्त होती रही हैं। वर्तमान युग में जो प्रयोग प्रसिद्ध हैं वे इन विभिन्न सिद्धान्तों के नाम से प्रचलित होते रहे हैं।

१ दिव्यदृष्टि (Clairvoyance)—प्रयोगकर्ता अपनी विशिष्ट सम्मोहन शक्ति से सपन्न होकर किसी भी पात्र को सम्मोहित करने की चेष्टा करता हुआ उसे निर्देश देता है “तुम दिव्यदृष्टि को प्राप्त कर चुके हो, तुम प्रत्येक वस्तु का साक्षात्कार कर सकते हो, तुम्हारी चैतन्य शक्ति समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक हो रही है । इत्यादि सम्मोहक वचनों का पात्र पर असर होता है और वह प्रयोगकर्ता के निर्देशन के अनुसार दृष्टि-सापेक्ष हो जाता है।

हैदराबाद कुसुम इण्डस्ट्रीज वाले श्रीमान् रतिलाल मेहता दिव्यदृष्टि का अपना एक अनुभूत प्रसंग बताते हुए कहते थे कि तिब्बत के लामा लोग साधन विशेष से मस्तिष्क के विशेष अंग को उत्तेजित कर दूसरे के प्राणमय कोष Etheric body को देखने की दिव्यदृष्टि प्राप्त करते हैं। उनके अनुसार इसमें विशेष दो जड़ी-बूटियों का प्रयोग होता है । एक तो दातेदार औजार जैसी और दूसरी शलाका जैसी। इसमें प्रारम्भ में पहली

को विशेष मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके उसकी आरी से ललाट की हड्डी को काटकर उसमें छेद करते हैं। बाद में दूसरी शलाका रूप जड़ी-बूटी अभिमन्त्रित कर छेद में डाली जाती है। डालते समय इसे मस्तिष्क के विशेष भाग से टकराकर डाली जाती है जिससे वह उत्तेजित हो जाय और वह व्यक्ति दिव्यदृष्टि से संपन्न हो जाय।

२. मानसिक सक्रमण—यह भारत की मानी हुई विद्या है। इसमें आपस में दूर रहे दो संबंधित व्यक्ति बिना किसी साधन प्रयोग के एक दूसरे को सदेश (Message) देते-लेते हैं। इस व्यापक सृष्टि में हजारों मील दूर ये सदेश बिना किसी व्यवधान के अपनी यात्रा सफल कर पहुँचते हैं और पुनः वहाँ का सदेश लेकर वापस लौटते हैं।

सामान्यतः कई बार व्यक्ति अपने विशिष्ट आवेगों के कारण दूर तक अपने भावों को फैला सकता है। परन्तु, उसे इस बात की प्रामाणिकता का अनुभव बिना प्रयोग के नहीं होता है। उदाहरणतः—व्यक्ति भोजन तो करता है, और उन पदार्थों का फल भी पाता है, फिर भी समस्त पाचन तन्त्र से वह अनभिज्ञ रहता है। आहार को पचाने के लिए पाचनतन्त्र से काम लेने पर भी वह पाचनतन्त्र से अनभिज्ञ रहता है उसी प्रकार सामान्य व्यक्ति भी मानसिक सक्रमण की प्रक्रिया से गुजरता अवश्य है, पर समझता नहीं है। अनजान में भी कई बार वह प्यार के अधिकारी में स्नेही मुझे इस समय याद कर रहा है ऐसा अनुभव करता है। इसी प्रकार बिना किसी कारण प्रसन्न या उदास भी होता है। अपनी आसपास की अवस्था या परिस्थिति में वह प्रसन्नता, आनंद या उदासीनता का कारण ढूँढ़ने का प्रयास करता है।

प्रयोग के जानने वाले यथोचित रूप में प्रयोग के माध्यम से सदेश देते-लेते हैं। इसमें दो प्रयोगकर्ता दूर रहकर अपने निश्चित किये हुए समय में मन्त्र स्मरण, स्तोत्र स्मरण, तालयुक्त प्राणायाम आदि द्वारा एक दूसरे से सबंध स्थापित कर सदेश देते-लेते हैं। यह तालयुक्त प्राणायाम हाथ की कलाई में अंगूठे की ओर नब्ज देखने वाली नाडी की धड़कन की गति के अभ्यास से सिद्ध होता है।

इसमें सुखासन में बैठकर नाडी की गति को १ से ६ तक गणनापूर्वक पूरक, १ से ३ तक आभ्यंतर कुम्भक, पुनः १ से ६ तक रेचक, फिर १ से ३ तक बाह्यकुम्भक किया जाता है। इसमें प्रति समय दोनों में नियोजित मन्त्र स्मरण अनिवार्य है। मन्त्र से उत्पन्न ध्वनि प्राणवायु से सबंध स्थापित कर विशिष्ट रूप से ऊर्जांचित होकर दूर तक जाती है और वहाँ से प्रतिध्वनि के रूप में सदेश लेकर वापस लौटती है, इसे बिना तार का यन्त्र (Wireless telegram) कहते हैं। इसमें प्राणवायु Telephone है और निर्धारित मन्त्राक्षर उसके Number हैं। इसे Transmigrals या Transmission System भी कहते हैं। इस प्रकार मानसिक सक्रमण के द्वारा अपनी विचार तरंगें दूर-दूर भेजी जा सकती हैं।

विचार तरंगों की गति में ईथर (Ether) नामक एक व्याप्त तत्व की सहायता रहती है। यह ईथर तत्व तरंगों की गति में सहायता प्रदान करता है। सामान्यतः विचारों की गति

की अपेक्षा विचार तरंगों की गति सात गुना अधिक है। एक क्षण में अनुमानतः ये पृथ्वी की ४० बार परिक्रमा लगाती हैं। इस कारण मानसिक सक्रमण में व्यक्ति आपस में विचार संप्रेक्षण करने में सफल रहता है। दोनों अभियोक्ता अपने मनरूपी Aerial द्वारा विद्युत शक्ति की सहायता से अथवा अपनी योगजन्य प्राणशक्ति से अपनी विचार तरंगों को विद्युत् तरंगों में परिवर्तित कर देते हैं। ये विद्युत् तरंग Space path (आकाश मार्ग) द्वारा निर्धारित जगह पहुँचकर पुनः उसी क्रिया द्वारा विचार तरंगों में परिवर्तित होकर सामने वाले को संदेश देकर और लेकर पुनः विद्युत् तरंगों में रूपांतरित होकर लौट आती हैं।

३ आत्मवाद (Spiritualism)—इस प्रयोग में प्लानचेट का उपयोग किया जाता है। इस पद्धति में पान के आकार के लकड़ी के एक पतले तख्ते पर दो तरफ धातु के दो पहिये लगाये जाते हैं। किनारे पर पेन्सिल लगाई जाती है, इसे प्लानचेट कहते हैं।

इस पर अंगुली रखने से अंगुली रखने वाले व्यक्ति के Magnetic power याने चुंबकीय शक्ति से वह घूमने लगती है। कभी-कभी स्टील की कटोरी, छोटी टेबल पर या प्रायमस (स्टोव) पर भी अंगुलियाँ रखकर यह प्रयोग किया जाता है। चुंबकीय अनुसंधान के अनुसार प्रयोगकर्ता के चित्त की एकाग्रता एवं चित्तशुद्धि के कारण प्रश्नों के योग्य उत्तर मिलते रहते हैं।

प्राचीन विचारधारा के अनुसार प्रयोगकर्ता द्वारा मृत आत्माओं का इसमें आव्हान होता है और प्रश्नों के उत्तर बहुधा उनके ही द्वारा दिये जाने की व्यापक मान्यता भी बहु प्रचलित है। इस विचारधारा में मृत आत्मा मृत्यु के समय अपने किसी दूरस्थ सबन्धी से कोई बात नहीं कह पाया हो तो वह अपनी प्रबल विचार शक्ति द्वारा ऐसे कुछ प्रयोगों के माध्यम से अपना काम कर सकते हैं। परन्तु, वस्तुतः ऐसा नहीं है। Personal Magnetism द्वारा उस प्लानचेट विद्युत् साधन पर प्रयोगकर्ता अपनी विचारधारा आवर्तित करता है और अंत में वही आवर्तित विचारधाराएं, ईश्वर की सहायता से उत्तर बनकर लौट आती हैं।

प्रश्न ४—भक्तामर स्तोत्र के सम्बन्ध में कई मंत्र, यंत्र, ऋद्धि आदि प्रसिद्ध हैं। उनके बारे में आपका क्या अभिप्राय है?

उत्तर—भक्तामर स्तोत्र स्वयं एक मंत्र है, क्योंकि यह मन का समस्त प्रतिकूल किंवा विघटन की स्थिति में त्राण याने रक्षा करता है। मन का जो रक्षण कर सकता है, वही तो मंत्र कहलाता है। व्यक्ति अपने जीवन के सभी प्रयत्नों में पूर्ण सफलता की इच्छा रखता है। हमारे यत्न का, प्रयत्न का रक्षण करता है वह यंत्र कहलाता है। भक्तामर स्तोत्र प्रत्येक प्रतिकूल या विपरीत स्थिति में भी एक सफल योजना के साथ साधक का रक्षण कर उसे अनुकूलता का आनंद प्रदान करता है, अतः यदि आप मेरा अभिप्राय जानना चाहते हैं मैं कहूँगी कि इस स्तोत्र का प्रत्येक पद अपने आप में एक योजनामय यंत्र है।

मन्त्र-यन्त्र-ऋद्धि आदि सबका काम उनके अधिष्ठाता देव को सिद्ध कर उनसे अपनी मनोकामना को पूर्ण करवाना है। भक्तामर स्तोत्र में परम आराध्य को अधिष्ठान के रूप में स्वीकार कर समापत्ति का सार्थक प्रयोग बताया गया है। मन्त्र से गर्भित इस स्तोत्र में स्तुति से भी अधिक नमस्कार को महत्व देकर साधक को पुण्य के महापुत्र का स्वामी बनाया गया है। इस स्तोत्र का एक-एक अक्षर ही महामन्त्र है। इसके लिए स्वतन्त्र रूप से मन्त्र को जोड़ करके मन्त्र का आकर्षण बनाये रखने का कारण मात्र तत्कालीन परिस्थिति की विवशता ही रही होगी। जो एक महान् मन्त्र है या फिर ऐसा कहें अनेक मन्त्र शास्त्र जिसमें प्रतिष्ठित हैं ऐसा यह स्तोत्र महापुण्य का पुत्र है। इसके अक्षर-अक्षर में मन्त्रत्व ध्वनित होता है।

यह अनुभवसिद्ध है कि सपूर्ण भावों के साथ नाभि से उत्थित स्वर युक्त शब्द महापुरुषों के योग से महामन्त्र तन्त्र का स्वरूप या साधन बन जाता है। भक्तामर स्तोत्र बिना किसी बाधा के इस प्रमाणोपेत पूर्ति का आधार है। इसके प्रत्येक अक्षर के उच्चारण में मन्त्र के आन्दोलन उत्पन्न करने की क्षमता है। इस आन्दोलन से विशिष्ट वातावरण और विशुद्ध वायुमण्डल का निर्माण होता है।

भक्तामर स्तोत्र की मूल संरचना के साथ अन्य किसी भी पद्धति का समावेश नहीं होता है। न तो स्तोत्रकार को किसी भी देवी-देवता को आवाहन करना पड़ा है, और न किसी पदार्थ विशेष से यन्त्र-तन्त्र के रूप में लोगों को आकर्षित करने का उपाय अपनाना पड़ा है। अपने विशुद्ध चित्त तन्त्र में परमानन्दस्वरूप परमात्मा का ध्यान कर समस्त विकृतियों से रहित हो जाना, यही इस स्तोत्र का परमार्थ है, सफलता का रहस्य है। परन्तु समय पर इतिहास करवट बदलता है। मानवीय अभीप्साये अभिव्यक्ति का रूप लेने के लिये अन्य कई आकर्षण के आयामों से जुड़ती रहती हैं। उनकी पूर्ति के लिये स्तोत्र से अतिरिक्त ऋद्धि चाहिये, मन्त्र चाहिये, यन्त्र चाहिये, तन्त्र चाहिये, देवी-देवता का आवाहन चाहिये। तरह-तरह की वृत्तियों द्वारा उपलब्ध विविध प्रकार के यन्त्र आज इस स्तोत्र की महानता का कारण बन रहे हैं।

यन्त्र के सम्बन्ध में षट्खण्डागम के चतुर्थ खंड में “वेयणमहाधिकारे कद्दिअणियोगद्धार” नामक अधिकार में ४४ महाऋद्धियाँ आती हैं। यन्त्रों में इन्हीं महाऋद्धियों को प्रमुखता देकर यन्त्र निर्माण की एक प्राचीन पद्धति रही है। षट्खण्डागम के मन्त्र ४४ हैं परन्तु इन्हीं ४४ पर से ४८ यन्त्र बनाये गये हैं। षट्खण्डागम दिगम्बर मान्यतावाला ग्रन्थ है और इनकी संख्या विवरण में ४८ पद्य मान्य हैं। अतः सभाव्य मान्यता के अनुसार यह किसी दिगम्बर मुनि या आचार्य से प्रणीत होने चाहिये। इन ऋद्धिसूत्रों के साथ कुछ बीज मन्त्र भी जोड़ दिये गये हैं।

इसके अतिरिक्त हरिभद्रसूरिजी म सा की ओर से भी एक अलग ही पद्धति से ४८ यन्त्र उपलब्ध होते हैं। हरिभद्रसूरिजी महाराज कौन से हैं? इसका निर्णय दुरूह है, परन्तु

यह तो निश्चित है कि ये श्वेताम्बर मान्यता वाले हैं। यह ४८ यत्र विधि उपरोक्त यत्र विधि से बहुत कुछ अलग है। दोनो ही यत्र विधि के मानने वाले अपने-अपने रूप में इसे वास्तविक मानते हैं।

एक तीसरा मत परम्परागत मान्यता वाला है। इसमें यत्र तो नहीं है परन्तु मंत्र अवश्य हैं। इनकी सख्या १९ हैं। इनमें प्रस्तुत मंत्रों में उपरोक्त कथित ४४ ऋद्धि मंत्रों का एव अतिरिक्त कुछ विद्याओं का समावेश किया गया है। परन्तु, स्तोत्र की सफलता उसके पद्यों में ही निहित है। यत्रप्रिय युग में आकर्षण बनाये रखने हेतु इन प्रचलित मान्यताओं को स्वीकृति दी गई हो, ऐसा स्पष्टतः प्रतीत होता है।

स्तोत्र में ऊर्जान्वित अक्षर विशुद्ध Vibration उत्पन्न करते हैं और ये आदोलन हमारी मनोकामना के अनुसार फल देना प्रारम्भ करते हैं। साधना करते समय साधक के अग में से निकलते ध्रावों को किसी विशेष पदार्थ में किसी विशेष पद्धति से संचित करके उससे अपने कार्य को सिद्ध करने की प्राचीन प्रणाली मंत्र-यत्र के आकर्षण का कारण रही है। ताड़पत्र, भोजपत्र, सुवर्णपत्र, ताम्रपत्र या रजतपत्रों पर यत्र का आलेखन कर इस शक्ति का उपयोग किया जाता है। विशेष परिस्थितियों में भक्तामर स्तोत्र की चमत्कारिक विस्तृति को वर्धमान करने हेतु इन आचार्यों ने इस प्रणाली का प्रचार किया। इस सृष्टि में कुछ धातुएँ, सूत, कुकुम, धागा, केशर, कपूर आदि भावान्वित पदार्थ माने जाते हैं। इस कारण इनका उपयोग कर साधक की एकाग्रता और आकर्षण को बढ़ाया जा सकता है।

अतः, यदि आप मेरे निजी अभिप्रायों को ही समझना चाहते हो तो मेरे लिए यह अनुभवसिद्ध है कि भक्तामर स्तोत्र स्वयंसिद्ध मंत्र है, यत्र है। परम शक्ति-पुज है। परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण के भावों में ये सब कुछ इसी में निहित हैं। इसके लिए अन्य किसी विधि-विधान-प्रयोग या पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। केवल भावपूर्वक स्तोत्र के पारायण से ही इसमें पूर्ण सफलता उपलब्ध है। किसी भी लौकिक मनोकामना के लिए इस स्तोत्र का उपयोग करना इस साधना सृष्टि के साथ मैं अन्याय समझती हूँ। किसी प्रकार की प्रतिकूलता का आना यह हमारे ही पापकर्म का कारण है। भावपूर्वक नमस्कार के साथ किया जाने वाला स्तोत्र पाठ इन पाप और कर्मों की निर्जरा करता है और विशिष्ट पुण्य का संपादन भी। जो सहज मिलता है उसे मागकर क्यों लिया जाय ? परम समर्पण के भावों में दृढ़ मन स्थिति के सामने परिस्थिति का कोई मूल्य नहीं होता है। परिस्थिति में परिवर्तन यह ससार का नियम है और मन स्थिति की दृढ़ता से परिस्थिति पर विजय, यह साधना का नियम है। अतः नमस्कार के भावों के साथ नियमित स्तोत्र पाठ जीवन की सफलता का एक सार्थक प्रयोग है।

प्रश्न ५—अधिकांश लोग चमत्कारों के कारण भक्तामर स्तोत्र को मानते हैं। इस बारे में आपका क्या अभिप्राय है? क्या वर्तमान काल में आपको इस स्तोत्र के चमत्कार का कोई अनुभव हुआ है?

बम्बई रहते थे। उस समय पहली बार उन्होंने प्रवचन के द्वारा इस स्तोत्र का महत्व सुना। फलतः उनके मन में स्तोत्र के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। तद्भूत जिज्ञासाओं के शमन के लिए ये प्रतिवर्ष हमसे संपर्क करते रहे। इस चातुर्मास की पूर्णाहुति पर लाल भवन में इन्होंने शीलव्रत एवं नियमित भक्तामर स्तोत्र पारायण का नियम लिया। जयपुर से अहमदाबाद लौटने के तीन-चार दिन बाद अचानक पेट में भयंकर दर्द हुआ। बढ़ती हुई इस वेदना ने दो-तीन दिन बाद अस्पताल में भयंकर रूप ले लिया। परिणामतः डॉक्टरों ने इसकी काफी गंभीरता बताई। इनकी धर्मपत्नी श्रीमती मधुकान्ताजी घबरा गईं। इसी समय प्रवीण भाई ने कहा कि तुम घबराओ मत, परन्तु भक्तामर स्तोत्र के ४६ वे पद्य का पाठ कर इसका अभिमंत्रित जल मुझे पिलाओ। मुझे विश्वास है कि इससे मुझे आराम हो जायेगा। अपने परिचर्या काल में भी आप नियमित स्तोत्र पाठ पारायण करते रहे। इसी दृढ़ता, एकाग्रता एवं परमात्मा के प्रति रही श्रद्धा ने डॉक्टरों की घबराहट के बीच में भी स्वस्थता का सफलता पूर्ण समाधान प्रस्तुत किया।

यह तो अहमदाबाद की घटना है, परन्तु अभी-अभी चातुर्मास काल में अमरजैन में डॉ. पारस सूर्या के पास करीब २२ वर्षीय लड़की का एक केस आया था। इसकी अस्वस्थता का निदान करते हुए डॉ. ने तरह-तरह के इलाजों से उपचार किया। खून की कई बोतलें चढ़ने के बाद भी जब कोई परिणाम नहीं आया तब स्वयं डॉ. ने अंतिम उपचार करते हुए उसके पिता से कहा कि अंतिम इलाज अब हो रहा है। अब तो इस बेटे के प्रारब्ध पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। आप एक काम कीजिए। पास में लालभवन में साध्वी जी म. सा. से सम्पर्क करें। जो इलाज दवा से नहीं होता है वह दुआ से हो सकता है।

डॉ. सूर्या जी के इस इलाज को अजमाने के लिए वे भाईसाब लालभवन आये और पू. दर्शनप्रभाजी म. सा. से बात करते हुए उन्होंने अपनी चिन्ता व्यक्त की। उनकी अभिव्यक्ति को सुनकर पू. दर्शनप्रभाजी म. सा. ने उन्हें खड़े रहकर भक्तामर स्तोत्र का पाठ कर अभिमंत्रित जल लड़की को पिलाने का कहा। प्रयोग के कुछ ही घंटों में पुत्री को स्वस्थ हुई जानकर वे प्रसन्न हुए। डॉ. पारस को भी उन्होंने इस वास्तविकता से अनुभूति करवाई।

आज भी डॉ. पारस जी कहते हैं—जब मुझे किसी के भी इलाज में अधिक खतरे की संभावना लगे तब मैं नवकार मन्त्र का स्मरण कर इलाज करता हूँ तो दर्दी स्वस्थता पाते हैं, मैं आश्वासन पाता हूँ। यह मेरी अपनी अनुभूति है। और इससे मैं यह मानता हूँ कि आराधना से साधक की ऊर्जा में परिवर्तन संभव है।

आबू पर्वत पर Sunset Point है। प्रातः काल यह बहुत ही सूना रहता है। अनुयोग प्रवर्तक पू. श्री कन्हैयालालजी महाराज शाहपुरा के सेवाभावी गजेन्द्र मेहता के साथ परिभ्रमण करते हुए स्थंडिलभूमि के लिए पर्वत की एक उपत्यका पर चारे थे। लौटने की नौयारी में थे उसी वक्त दहाड़ता हुआ एक शेर लपलपाती हुई आँखों के साथ सामने खड़ा हो गया। शेर को सामने देखकर वातावरण भयाक्रान्त हो गया। राजेन्द्र मेहता

महाराज श्री के निकट खड़ा हो गया। उसी वक्त महाराज श्री ने इस स्तोत्र के ३९वें पद का पाठ शुरू किया। कुछ ही मिनटों में वह शेर सर्कस के शेर की तरह यत्रवत् वापस लौट गया।

एक बार हम लोग केकड़ी से जैतारण जा रहे थे। एक रास्ता रोड-रोड से ब्यावर होते हुए था और दूसरा रास्ता कच्चा था जो बीच-बीच में जगलो और खेतों से होता हुआ जैतारण पहुँचता था। वह थोड़ा कम होने से हमने उस पर चलना तय किया। चलते हुए हम खरवा से गोला पहुँचे। गोला से आहार-पानी करके हमें आगे चलना था। आहार-पानी की व्यवस्था वहाँ कम होने से रात्रि विश्राम वहाँ करने का इरादा नहीं था। गोला से हमने प्रस्थान किया तब प्रारम्भ के ३-४ कि मी तक तो हमें कोई न कोई मिलता रहा। बाद में पगडंडी से होकर रास्ता आगे मिलेगा ऐसा वहाँ के लोगों के कहने से हमने पगडंडी पर चलना शुरू किया। परन्तु, आगे चलकर पगडंडी पूर्ण हो गई। शाम होने में कुछ ही समय बाकी था। वापस लौट नहीं सकते थे। खेत और कूप की परिसीमाएँ समाप्त हो चुकी थी। अपरिचित और अनभिज्ञ हमने वहाँ वटवृक्ष के नीचे कुछ समय सोचने में ही गुजारा। जब कोई रास्ता नजर नहीं आया तब हमने भक्तामर स्तोत्र का पाठ शुरू किया। इसी वक्त हमारी आवाज को सुनकर एक आदिवासी महिला वहाँ आयी और कहने लगी तुम शहर के आदमी ऐसे जगलो में क्यों आये? आगे कहाँ जाना चाहते हो? यहाँ तो जगली जानवरों का बहुत उपद्रव है। उसके यह कहते ही कहते एक भालू सामने आकर खड़ा हो गया। वह महिला घबराकर कहने लगी, 'मैं भी अपना साधन छोड़कर आयी हूँ अब क्या होगा?' हमने उसकी घबराहट को दूर करते हुए उसे चुप रहने का संकेत दिया और हमने नमोकार मन्त्र और स्तोत्र पाठ शुरू किया। भालू चुपचाप लौट गया। आदिवासी महिला आश्चर्य और कौतूहल के साथ देखती रह गई और शहर तक हमें रास्ता बताती हुई चलती रही। रास्ते में हमने उसे जानवरों को नहीं मारने के बारे में समझाया। प्रेम से परमात्मा का स्मरण करो। ये प्राणी भी प्रेम से वश में होते हैं। अभय देने से अभय मिलता है। बातचीत के दौरान चलते हुए हम लोग सुमेर नाम के गाँव में पहुँचे। छोटे से कस्बे में रात गुजारना हमने उचित समझा। रात में वह आदिवासी महिला कई आदिवासी लोगों के साथ आयी और हमारा अपनी भाषा में टूटा-फूटा परिचय देने लगी। उन सबको समझाने पर उन्होंने जानवरों को नहीं मारने की प्रतिज्ञा की।

ई. सन् १९७१ की यह घटना है। हम आकोला (महाराष्ट्र) से इंदौर (मध्य प्रदेश) की ओर विहार करते हुए जा रहे थे। खडाला से आगे करीब ४० कि मी पर जंगल आता है, वहाँ हमने पहाड़ की एक चोटी पर बने हुए मकान में विश्राम लिया। वहाँ के लोगों ने हमें इस बात की चेतावनी अवश्य दी थी कि पास के तालाब में पानी पीने के लिए आने वाले शेर इस रास्ते से गुजरते हैं, इसलिए हम कोई भी इस चोटी पर कभी नहीं रहते हैं। यदि किसी खास मौके पर रहने की आवश्यकता होने पर हम अग्नि का प्रबंध रखते हैं। हमने उसे कहा कि अब समय भी नहीं है कि हम स्थानांतर करें, अतः अपने इष्ट स्मरण से

हुए लोग नीचे उतरे। इतने में किसी का ध्यान गढ़े में होने वाली हलन-चलन की ओर गया। बच्चा भीतर से बाहर निकलने का खुद ही प्रयास कर रहा था। अतः बाहर ऊपर की ओर इस प्रकार की हिलचाल हो रही थी। सर्वाधियों ने बड़ी हिम्मत से गढ़े को खोदने का साहस जुटाया और वास्तविकता का पता लगाया। बच्चे का प्रारब्ध समझो या स्तोत्र का चमत्कार, पर बच्चा गढ़े से बाहर निकल सका। जो बिलकुल असंभव लगता था, वह सहज संभव हो सका। आज भी वह बच्चा बड़ा होकर अपने परिवार के साथ विदिशा में रहता है। वह कहता है, पता नहीं मुझे कहाँ से इतना बल और शक्ति मिल रही थी कि मैं बाहर निकलने का प्रयास कर रहा था। इधर नौवा भक्तामर होते-होते ही बच्चा मिल जाने की खुश खबरी से वातावरण तनावरहित हो गया था।

इसी प्रकार पाली में एक अजीब सा प्रसंग हुआ। समाज के अध्यक्ष श्रीमान् घीसुलालजी मुथा के पुत्र मिलापचंद जी रहते हैं। प्रातः काल घर से दुकान जाते हुए पता नहीं कौन किस प्रकार कहाँ उनको ले गया। परिवार वालों को पता लगते ही खोज-बीन चालू हो गई। तनावपूर्ण वातावरण में भी मिलापचंद जी की भाभी श्रीमती कमलादेवी भागी हुई स्थानक (रघुनाथ स्मृति भवन) में हमारे पास आयीं। हमने उन्हें आश्वासन देकर नमोकार मन्त्र की माला और एक भक्तामर, पुनः एक माला और भक्तामर इस प्रकार जाप क्रम जारी रखने को कहा। जाप के प्रभाव से समझो चाहे भाग्य परन्तु मिलापचंद जी वापस लौट आये।

एक विचित्र अनुभव हमें और हुआ है। एक बार हम खपोली से विहार कर चोक की ओर जा रहे थे। प्रातः काल वर्षा हो जाने से विहार देर से हुआ। आहार-पानी लेकर हम लगभग ११/३० बजे खपोली से रवाना हुए। ३ कि. मी. पार कर लेने पर देखा तो हमसे दशेक कदम पीछे एक अजीब सी महिला चल रही थी। जिसकी लंबाई सात-आठ फीट थी। आकृति भी अजीब सी थी। जमीन को नहीं छूती हुई वह तेज चलती थी, लेकिन चलते वक्त उसके दोनों हाथ स्थिर रहते थे। हमने हिम्मत कर जोर से स्तोत्र पाठ का स्मरण किया और करीब १२ कि. मी. का वह पथ हमने जाप से सपन्न किया। चोक पहुँचने से पूर्व ही कुछ दूरी पर हमने देखा तो पीछा करती हुई वह महिला अदृश्य हो गई थी। यह प्रसंग इतना अविस्मरणीय है कि याद आते ही लगता है जैसे आज अभी घट रहा हो।

भक्तामर स्तोत्र के द्वारा अरिहत परमात्मा की भक्ति करने का सुअवसर आज के युग में उपलब्ध करना यही सबसे बड़ा चमत्कार है। मुझे इसकी उपलब्धि ही बड़े चमत्कारी ढंग से हुई है। अरिहत परमात्मा पर अनुसंधान करते समय एक बार ऐसी रुकावट आ गई कि आगे कोई रास्ता ही नहीं सूझ रहा था। अनेक प्रयासों के बाद भी जब काम न जम सका तब निराश होकर मैं जाप करती हुई सो गई। रात के करीब ३ बजे स्वप्न में ही पद्य ३६ का जाप मेरे से हो रहा था। वीतराग परमात्मा के परम शरण स्वरूप चरणों पर अपना मस्तक रखकर नमस्कार की मुद्रा में समर्पित हो रही थी और मुझे कोई

ठाणाग सूत्र की प्रति खोलकर वह पद वृत्तिसहित पढ़ा रहा था, वह पद जिसकी मैं खोज कर रही थी। उसकी प्रसन्नता मेरी नींद खुल गई। प्रातःकाल की आराधना कर तुरत ही मैं अवसर पाकर जैन साहित्य विकास मंडल पहुँची। श्री प्रताप भाई मेहता के सहयोग से भंडार जो प्रतिदिन दश बजे खुलता है उसे ७ बजे ही खुलवाया गया। स्वप्न में देखी हुई वे पाक्तियों झिलमिलाती हुई मेरे जीवन को छू गई। मेरे जीवन की प्रगति का विकास वही से प्रारंभ हुआ। जीवन की संपूर्ण सफलता का यह शुभारंभ था। यह अभूतपूर्व प्रेरणा मेरे जीवन का संयोजन बन गई। आज भी यही ३६वाँ पद मेरे संपूर्ण जीवन का आधार है। भक्तामर स्तोत्र के ऊपर पायी हुई सारयुक्त उपलब्धियों का मूलाधार यह पद है। यह पद मेरे जीवन की निधि है, सनिधि है और उपलब्धि है।

किसी भी भौतिक वस्तुओं की उपलब्धि के लिये आराधना कर आराध्य से माँगने के विचारों के मैं खिलाफ हूँ। क्योंकि, बाह्य प्रसंगों की अपेक्षा भी भक्तामर स्तोत्र की सर्वोपरि विशिष्टता तत्काल कषाय उपशमन करने की है। इससे बड़ा चमत्कार और क्या हो सकता है? बिना मागे ही स्तोत्र पाठ के द्वारा मैंने कई बार अभीष्ट सफलता पाई है। कई बार सांप्रदायिक वातावरण के कारण सघों में जब आपसी टकराव होते हैं तब दोनों पक्षों को शान्ति और समाधि पदान कर मानसिक अशान्ति दूर करने में भक्तामर स्तोत्र बड़ा सफल रहा है। ऐसे तो कई प्रसंग आये हैं लेकिन एक नवीन प्रसंग भी सुन लीजिए।

जोधपुर महामंदिर में दो विरोधी पक्ष हमें महामंदिर के आगमन का निमंत्रण दे गये। स्वीकृति देकर हमने वहाँ पहुँचना अनिवार्य समझा। परन्तु, एक पक्ष को बाद में असंतोष हुआ और उन्होंने हमारे वहाँ नहीं पहुँचने के अनेक प्रयास किये। सघ की ऐक्यता को बनाने और सांप्रदायिक दूषणों को हटाने के उद्देश्य से हमने विरोधी वातावरण में भी स्थानक में प्रवेश किया। हम सबने और सघ के कई लोगों ने सघ की शान्ति हेतु उस दिन आरंभिल किये। दोपहर को एक घंटा शान्ति जाप और एक घंटा भक्तामर जाप करवाया। विरोधी शांत तो हो गये लेकिन प्रशांत नहीं हो पाये। अतः उसी दिन से प्रतिदिन जाप चालू रखे। धीरे-धीरे सारे विरोध और अवरोध समाप्त हो गये। आज भी वहाँ प्रतिदिन स्तोत्र पाठ चालू है।

एक बार एक सुनसान पथ पर सामने से आता हुआ एक ट्रक हमारे विहार मार्ग पर रुक गया। ट्रक में से दो-तीन पहलवान जैसे आदमी नीचे उतरे। उनकी वृत्तिसहित से भरी निगाहें, उनकी भावनाओं को छिपा नहीं सकीं। हमने तुरत ही उन्हें नमस्कार महामन्त्र के जाप शुरू किये। आपको क्या बताऊँ, ऐसी वृत्तिसहित से पहलवान न तो कुछ बोल पाये और न कुछ कर सके। नत्र देखते रहे और नत्र रास्ता काटकर आगे निकल गये।

जिसके अक्षर-अक्षर में रहस्य भरे हुए हैं
जितनी महानताएँ अनुभव में लाते हैं

